एक तिनके से क्रांति

नैसर्गिक खेती पद्धति एवं
जीवन दर्शन पर आलेख

मासानोबु फुकुओका

हमारे स्मृतिकाल में लिखी गई सिर्फ कुछ ही पुस्तकें लोगों के दिलों, दिमाग और जिन्दगी को पूरी तरह से बदलने में सफल रही है। जैसे कि मासानोबु फुकुओका की पुस्तक 'द वन स्ट्रा रिवोल्यूशन'।

आधुनिक कृषि और उसके तरीके जिस तरह से मिट्टी को नष्ट कर रहे थे, उससे आहत होकर फुकुओका अपने तकनीकी ज्ञान आधारित पेशे को छोड़कर फिर से अपने गांव लोट आये। यहाँ पर उन्होंने फिर से पारंपरिक खेती की शुरुआत की और उसे परिष्कृत भी किया ताकि उसमें कम श्रम और प्रकृति में न्यूनतम व्यवधान की आवश्यकता हो। उनके तरीके से उगाई गई फसलों की पैदावर उतनी ही अच्छी थी जितनी की ट्रेक्टरों से हांकी गई और भारी मात्रा में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों की मदद से पड़ोस के खेतों में उगाई गई फसलों की पैदावार।

फुकुओका जिन्हें इस सदी का सबसे उत्कृष्ट किसान माना जाता है, "एक तिनके से क्रांति" पुस्तक में उन घटनाओं का वर्णन करते हैं जिसके कारण उनके प्राकृतिक खेती के तरीको का विकास हुआ और उसका असर उनकी जमीन पर, खुद पर और उन कई हजारों लोगों पर पड़ा जिन्होंने उनके तरीकों से सीखा। उनका कहना है कि जिस तरह से हम खेती को देखते है, वह हमारे स्वास्थ्य, शिक्षा, स्कुल, प्रकृति, पोषण, आध्यात्म और स्वयं अपने जीवन को देखने के तरीके को भी प्रभावित करती है।

यहां फुकुओका हमें एक आखिरी समझाइश भी देते हैं कि अभी भी वक्त है कि हम आधुनिक खेती और इसके विनाशकारी एवं जहरीलें तौर-तरीकों को छोड़कर भूमि के साथ अपनी निकटता से काम करने की अपनी समृद्ध विरासत की तरफ लौट आए।

तकली (इम्प्रींट बनियन ट्री)
1-बी, धेनु मार्केट, प्रथम माला
इन्दौर - 452003, इण्डिया
टेली : 91-731-2531488
मोबाईल : 91-8989461462
e-mail : banyantreebookstore@gmail.com
website : banyantreebookstore.weebly.com

एक तिनके से क्रांति

नैसर्गिक खेती पद्धति एवं
जीवन दर्शन पर आलेख

मासानोबु फुकुओका

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

मासानोबू फुकुओका

एक तिनके से क्रांति

THE ONE STRAW REVOLUTION

का हिन्दी अनुवाद

नैसर्गिक खेती पद्धती एवं
जीवन दर्शन पर आलेख

भाषांतर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

बनियन ट्री
तकली की छाप

एक तिनके से क्रांति
मासानोबू फुकुओका
भाषांतर : पुर्वा याज्ञिक कुशवाहा

'शिझेन नोहो वारा इप्पोन काकुमेई' नामक मूल जापानी पुस्तक से ख्रिस पिअर्स, त्सुने करोसावाव लेरी कॉर्न द्वारा अंग्रेजी में किया अनुवाद रोडेल प्रेस अमेरिका ने 1978 में 'द वन स्ट्रा रिवोल्यूशन' पुस्तक के रूप में प्रथम प्रकाशित किया। लेरी कॉर्न द्वारा संपादित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मासानोबू फुकुओका व रोडेल प्रेस के सौजन्य से प्रकाशित किया।

तकली (इम्प्रींट बनियन ट्री)
1- बी, धेनु मार्केट, प्रथम माला
इन्दौर - 452003,
टेलीफोन : 91-731-2531488
मोबाईल : 91-8989461462
ई-मेल : banyantreebookstore@gmail.com
वेबसाइट : www.banyantreebookstore.weebly.com | www.takali.in

अंग्रेजी संस्करण

ISBN : 978-93-82400-30-1

भारत में प्रकाशित एवं मुद्रित

मुद्रण : भारती ग्राफिक्स, इन्दौर

बनियन ट्री ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण करते हैं जो जड़ एवं चेतन के संबंधों को आपस में जोड़ती हैं। हमारी पुस्तकें संस्थानीकृत विश्व की पूर्व परिभाषित अवधारणाओं को चुनौती देती हैं; अपनी परंपरागत एवं सांस्कृतिक जड़ों की ताकत की समझ को उसी प्रकार सुदृढ़ करती हैं जैसे *बरगद की जड़ें*।

यहाँ आपको ऐसी पुस्तकें मिलेंगी जो ज्ञान, संस्कृति एवं परंपरा के संस्थानीकरण को चुनौती देती हैं; पुस्तकें जो भोजन, स्वास्थ्य एवं कृषि के नियंत्रण और मिलावट को चुनौती देती हैं; सीखने, स्कूल-विहीन शिक्षा तथा, परिवेश के टिकाऊ विकास पर पुस्तकें। हमारा यह अटल विश्वास है कि *"कुछ भी पढ़ाया नहीं जा सकता"* तथा *"काम ही गुरू है"*। यहाँ आप अंग्रेजी, हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में पुस्तकें खरीद सकते हैं।

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

फुकुओका की वन स्ट्रा रेवोल्यूशन की जानकारी मुझे पहले-पहल अमरीकी पत्रिका गदर अर्थ न्यूज़ में 1983 के अंत में छपी पुस्तक समीक्षा से मिली। हालाँकि यह समीक्षा संक्षिप्त थी पर वह इस छोटी से किताब के जादू और उसकी ताकत से सराबोर थी। समीक्षा ने मेरे मन में पुस्तक को पढ़ने की उत्कट लालसा जगाई। पर रसूलिया में फ्रेंड्स रूरल सेंटर में रहने के कारण मैं किताबों की किसी दुकान से बड़ी दूर था।

सो मैंने लंदन में रहने वाली एक मित्र को लिखा, उसने तत्काल पुस्तक खरीदी और साधारण डाक से भेज दी। मैं जानता था कि उसके आने में अधिकतम छह महीने लग सकते हैं, मैंने एक मित्र से अनुरोध किया कि वह हवाई डाक से किताब भेजे। यह किताब काफी जल्दी आ गई।

मैं यह भूल नहीं सकता कि डाकिए से किताब पा, मैं एकांत में एक पेड़ के नीचे बैठ गया और तब तक पढ़ता रहा, जब तक अंधेरा न घिर आया। सौभाग्य ही था कि उस दोपहर हमारे घर में आग नहीं लगी, क्योंकि संभव है कि मैं उसे बुझाने तक को न उठता। यह कहना बेमानी है कि मैं सोने के पहले किताब पढ़ चुका था। अगली सुबह मैंने किताब के अलावा कोई दूसरी बात नहीं की। मैं कई मित्रों को शाम तक साझे पुस्तक पाठ के लिए राज़ी कर पाया। हमने समूची पुस्तक को छह सांध्य सत्रों में समाप्त कर दिया। सबको लगा कि उन्होंने इससे कुछ पाया है। इस किताब ने हमारे दिलों को छुआ।

हम केंद्र में आने वाले मेहमानों के साथ इसे साझा करने लगे, और गौर किया कि उनकी अनुक्रिया 100 प्रतिशत है। मैं इसे भारत में छापने के सपने देखने लगा।

सौभाग्य से पुणे में रहने वाले हमारे मित्र सुजीत पटवर्धन, सपरिवार रसूलिया यात्रा पर आए। सुजीत ने किताब को लेकर मेरे उत्साह पर गौर किया और उसे पुन: छापने में आने वाले खर्च का अनुमान तैयार करने का वादा किया। हमारी सीमाओं से परिचित होने के कारण उन्होंने भारी रियायतों के साथ हिसाब कुछ ऐसे बनाया कि इस परियोजना को साकार बनाना संभव हो गया। मैं जानता हूँ कि उनकी उदार सहायता के बिना, जिसमें पुस्तक को बेचने में मदद भी शामिल थी, किताब को छापना संभव न होता।

सुजीत की गणना ने साफ किया कि एक अच्छा पैपरबैक संस्करण सस्ती दर में छापा जा सकता है। बेशक फ्रेंड्स रुरल सेंटर इससे कोई लाभ नहीं कमा सकता था तथा उसे पैक करने और डाक व्यय आदि के सारे काम स्वयंसेवकों को नि:शुल्क करने पड़ेंगे। यह सब साफ-साफ समझ कर मैंने यह चुनौती स्वीकारी।

रोडेल प्रेस के पास किताब का प्रकाशन-अधिकार था। मैंने उन्हें पत्र लिखा और उसके भारतीय संस्करण को छापने की अनुमति सांकेतिक रॉयल्टी पर पा ली। हमने 1000 प्रतियाँ छापीं और चार माह से भी कम अवधि में बेच डालीं। दिसंबर 1987 तक, जब मैंने रसूलिया छोड़ा, हम उसके चार संस्करण छाप चुके थे और 3500 से अधिक प्रतियाँ बेच चुके थे।

इस बीच, मुझे फुकुओका सेन्सेई और रॉबर्ट रोडेल से व्यक्तिगत स्तर पर परिचित होने के अवसर मिले। इन दोनों ने पुस्तक को विभिन्न भारतीय भाषाओं में रूपान्तरित करने को प्रोत्साहित करने की अनुमति भी दी। यों, 1986 में पुस्तक का मलयालम अनुवाद जारी हुआ और अब यह पुस्तक मराठी, गुजराती, तेलगू, बंगाली और हिन्दी में भी उपलब्ध है।

यह जानते हुए कि पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण की मांग अब भी बनी हुई है, मैं अदर इन्डिया प्रेस के तत्वाधान में इसके प्रकाशन प्रक्रिया में भागीदारी कर प्रसन्न हूँ। इस नए संस्करण ने मुझे अवसर दिया है कि मैं पाठकों के साथ प्राकृतिक कृषि तथा प्राकृतिक जीवन संबंधी अपने अनुभव को साझा कर सकूँ जिसकी प्रेरणा अंशत: मुझे फुकुओका सेन्सेई की वन स्ट्रा रेवोल्यूशन से मिली थी।

मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि किताबों पर इस तरह बतंगड़ बनाना मेरी आदत नहीं है। बल्कि इसके विपरीत मैं ज्यादातर किताबों को लेकर सशंकित रहता हूँ, और मेरा मानना है कि वे बेहद उबाऊ, कठिन और जरूरत से ज्यादा लंबी होती हैं। अच्छी किताबें बिरले ही मिलती हैं। और कभी-कभार ही, एक अर्से के बाद, एक सच में प्रेरणादायक किताब हाथ लगती है। बेशक द वन स्ट्रॉ रेवोल्यूशन ऐसी ही एक किताब है।

मैं बखूबी जानता हूँ कि श्रेष्ठतम पुस्तकें भी अपने सभी पाठकों को प्रेरित नहीं कर सकतीं; पाठक के मस्तिष्क और उसकी मन: स्थिति पर काफी कुछ दारोमदार रहता है। हुआ यों था कि मेरे सहकर्मी और मैं फुकुओका के लिए तैयार थे। हम 1978 से ही टिकाऊ और स्वस्थ खेतीबारी को लेकर प्रयोग करते रहे थे। मैं इसे भी अपने सरोकार का हिस्सा बना रसूलिया में काम करने आया था। हमने उस समय अपने इस खास चुनाव पर कोई ठप्पा तक चस्पा नही किया था क्योंकि हम अपने सोचने के तरीके में आमूल-चूल बदलाव के लिए अपने दिमाग खुले रखना चाहते थे। मैं स्वयं क्रमश: उस सबसे बेहद असहज हो चुका था, जो कुछ मुझे सिखाया-पढ़ाया गया था।

रसूलिया में न कोई हमारा इन्सानी पथप्रदर्शक था न कोई सिद्धान्त। हम प्रकृति को ही अपना गुरु मानते थे। बढ़ने के लिए हम प्रकृति को सुन, उसका ही अवलोकन कर सीखना चाहते थे। हमारा विश्वास था कि एक समुदाय के रूप में सत्य की सामूहिक तलाश हमें सही पथ पर टिकाए रखेगी और सभी दरवाज़े भी खुले रखेगी। हमारे समूह में तकरीबन बीस एक लोग थे: पुरुष तथा स्त्रियाँ, युवा तथा प्रौढ़, निरक्षर तथा उच्च शिक्षा प्राप्त, अधिकांश ऐसे जो गाँवों के बेहद गरीब लोग थे। हम सब मिलजुल कर विचार करने लगे थे कि हम चीजों को, खासकर खेतीबारी के कामों को किन तरीकों से करते हैं। हम सब अपने तौर तरीकों को लेकर शंकालु थे और बदलने को तैयार।

प्रयोग और गलतियों के द्वारा हम चार वर्षों में कुछ चीज़ें हासिल कर सके थे। हमारी खेत-जोत में रासायनिक खाद और कीटनाशकों का उपयोग पूरी तरह वर्जित था। यह निर्णय उस खेत के लिए किसी सूरत में आसान नहीं था जहाँ मैक्सिकन बोने गेहूँ की, प्रति एकड़ अधिकतम फसल पाने के लिए भारी मात्रा में रासायनिक खाद काम में ली जाती ही हो। परन्तु तमाम झटकों के बावजूद इस निषेध का पूरी ईमानदारी से पालन किया गया। कई गलतियों के बाद हमारा उत्पादन कुछ स्थिर हो पाया था और रासायनिक खाद की जगह पूरी तरह जैविक सामग्री ने ले ली थी।

फसल को बर्बाद होने से बचने के लिए हमने अलग-अलग प्रजातियों के बीज बोए, और इलाके के किसानों के परंपरागत जाँचे-परखे विचारों को अपनाया। क्योंकि हम अब कीटनाशकों का उपयोग नहीं कर रहे थे हमने कई सरल पौध-सुरक्षा तकनीके सीखीं। उदाहरण के लिए हमने ज्ञात कीट निरोधकों, जैसे लहसुन, प्याज, नीम, गेंदा और कई अन्य फूलदार पौधों का उपयोग किया। हमारे खेतों में लगे अलग-अलग पेड़-पौधे भिन्न कीटों को आकर्षित करते जो एक दूसरे पर नियंत्रण रखते। कई बार तो वे एक-दूसरे के शत्रुओं को ही दूर करते।

इन उपायों द्वारा हमने जल्दी ही एक जीवनक्षम संतुलन पा लिया और हमारी फसल भी काफी स्वस्थ बन सकी। हमने केवल मज़बूत, स्थानीय, प्राकृतिक बीजों को बोना सीख लिया था। दो छोटे बागानों में हमने पुआल की ढकावन का प्रयोग किया था। इसका प्रभाव लाभदायक रहा था। माटी में कीटों की जनसंख्या में वृद्धि हुई, मिट्टी अधिक मुलायम और स्वस्थ बनी थी, और उसमें ज़्यादा समय तक नमी बनी रहने लगी थी। हमारी खेतीबारी में ऐसे कई छोटे बदलाव लाए गए थे और उन्हें पुरानी आदतों के रूप में स्वीकार लिया गया था।

इसके बावजूद हमें यह चिंता परेशान करने लगी थी कि हम एक पठार पर आ पहुँचे हैं। जिस समय हमारे पास द वन स्ट्रॉ रेवोल्यूशन आई तब तक हमें एक नई दिशा की ज़रूरत का ज़बरदस्त अहसास होने लगा था। इस पुस्तक में हमें वह मिला जिसे हम तलाश रहे थे। ज़्यादातर दोस्त इस बात से सहमत थे कि हमें प्राकृतिक कृषि को पूरे मन से, उसकी समस्त संभावनाओं और जोखिमों समेत अपना लेना चाहिए। आखिर इस पुस्तक में जो कुछ सुझाया गया है उसे हम अपना ही चुके थे, खोदना-जोतना बंद करने का विचार ही हमारे लिए प्रमुख नया विचार था।

पर हमने जल्दी ही पाया कि जोतना बंद करना ही प्राकृतिक खेती का सबसे कठिन हिस्सा है। जिन किसानों ने बुवाई के पहले हमेशा ही अपने खेतों को जोता हो, जो इस पर सवाल उठाने की बात सपने तक में नहीं सोच सकते, वे 'पड़त' भूमि में बीज बोने की कल्पना आसानी से भला कैसे कर सकते हैं। सो अपनी सारी ज़मीन पर जुताई बंद करने की हमारी हिम्मत ही नहीं हुई। पर हमारे लोग इस बात पर सहमत हुए कि हल का उपयोग वे काफी कम कर देंगे। हमने अपने गहरी जुताई के उपकरण को छिछली फलक से बदल दिया जो बाखर कहलात है। अनुशासन लागू करने और खर्चों में कटौती लाने के लिए हमने अपना ट्रैक्टर और साथ ही तीन बैलों की जोड़ियों में से एक को बेच दिया। हमने मानो एक पुल ही जला दिया था और इसका भारी मनोवैज्ञानिक असर हुआ। हमारे अधिकांश मित्रों को लगा कि हम अब हद कर रहे हैं।

काफी चर्चा के बाद हमारा समुदाय इस बात पर राज़ी हुआ कि एक 4 एकड़ के खेत को अनजुते रखने के प्रयोग के लिए दे दिया जाए। यह जोत भूमि काफी खराब हो चुकी थी पर उसकी स्थिति केंद्रीय थी। क्योंकि वह साफ देखी जा सकती थी प्रयोग के लिए वह उपयुक्त भी थी। दो साल बाद, इसकी स्पष्ट सफलता के चलते इसका क्षेत्र दुगना कर दिया गया। जैसे-जैसे हमारी ख्याति फैली, लोग लगातार आने लगे। उनकी टिप्पणियाँ, उनके सुझाव और उनका उत्साह हमारे समुदाय के लिए प्रोत्साहन का स्त्रोत बन गया।

प्राकृतिक खेती करते हुए हमने कई रोचक नई चीजें सीखीं। एक दिन ऋषि पंचमी के त्यौहार पर मैंने देखा कि उस दिन व्रत रखे हुई एक स्त्री ने अपना उपवास अनजुती मिट्टी में उगे जंगली खाद्य-पदार्थ इकट्ठे कर तोड़ा। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से पता चला कि यह त्यौहार प्राचीन युग से चला आ रहा है जब कई ऋषि अपना सारा भोजन बिना मिट्टी को जोते ही उगाया करते थे। उनका मानना था इस प्रकार उगे खाद्य पदार्थ अधिक स्वास्थ्यवर्धक होते थे। साथ ही वे जुताई को मिट्टी के लिए नुकसानदेह भी मानते थे। मर्नु-स्मृति में मनु इसकी चर्चा करते हुए रेखांकित करते हैं कि जितनी गहरी जुताई होगी उतना ही अधिक नुकसान मिट्टी को होगा। अत: प्राकृतिक कृषि एकदम नया विचार भी नहीं था।

ऐसे ही कृषि अभ्यास दुनिया के विभिन्न हिस्सों में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, समूचे उत्तरी अमरीका के इन्डियन, छेद में बीज बो कर मक्का, सेम, स्वॉश (कद्दू प्रजाति की सब्जी) व अन्य सब्जियाँ उगाया करते थे। उनके पास तो हल तक नहीं था। फिर क्या अचरज कि यूरोप से आए लोगों को उत्तरी अमरीका की धरती इतनी समृद्ध और स्वस्थ मिली, बावजूद इस तथ्य के कि स्थानीय इन्डियन उसका उपयोग 50,000 वर्षों से करते रहे थे। उसी महाद्वीप में जहाँ-जहाँ अधिक सभ्य कबीले बसे थे जो हल का इस्तेमाल करते थे, वहाँ की मिट्टी रेत में तब्दील हो चुकी थी।

प्राकृतिक खेती के लंबे इतिहास को रेखांकित करने के मकसद से मैंने इसे ऋषि खेती कहना शुरु कर दिया। मेरी आशा यह भी थी इससे लोग इसे जापानी खेती नहीं कहेंगे। बाद में जब मैंने फुकुओका से यह कहा तो उन्होंने भी ऋषि खेती नाम का अनुमोदन किया। उन्होंने कहा कि अगर गांधीजी जीवित होते तो वे भी ऋषि कृषि को आशीर्वाद देते।

पाठकों को जल्दी ही यह भी पता चल जाएगा कि यह किताब केवल खेतीबारी के बारे में नहीं है। इसका सरोकार समूची जीवनशैली से है। अत: इसमें पोषण, स्वास्थ्य, विज्ञान तथा तकनीक और सादा जीवन पर भी ध्यान दिया गया है। परन्तु इससे भी अधिक बल फुकुओका अपने विचारों की आध्यात्मिक नींव पर देते हैं।

वे अपने उस व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभव को साझा करते हैं जब एक दिन वे इस अहसास से अंदर तक हिल गए कि समस्त जगत एक ही केंद्रीय सत्य का हिस्सा है। अपने अज्ञानवश ही हम विभेदात्मक और विलोम देखते हैं। अत: घटनाओं के अवलोकन पर आधारित हमारा सारा ज्ञ ान दरअसल असत्य, अत: लगभग बेकार ही है। मुख्यत: इसी अंर्तदृष्टि को चित्रित करने के लिए फुकुओका खेती की ओर मुड़े थे। एक के बाद एक कर उन्होंने खेती के वे सारे 'आवश्यक' काम

त्यागे जो किसान करते हैं और जिनकी सलाह 'विशेषज्ञ' देते हैं। और अंतत: बिना जुताई-खुदाई, खरपतवार की गुड़ाई, खाद देने और बिना रासायनिक खाद और कीटनाशक के उपयोग के भी उन्हें इतनी ही अच्छी फसल मिली। यों उन्होंने सिद्ध कर दिया कि कृषि का सारा परंपरागत ज्ञान न केवल निकम्मा है बल्कि नुकसानदेह भी है, क्योंकि यह मिट्टी को नष्ट करता है, पौधों को कमज़ोर बनाता है और वातावरण को दूषित करता है।

फुकुओका खेती संबंधी अपने प्रयोगों का वर्णन केवल उतनी ही विस्तृत जानकारी के साथ करते हैं कि वे आपको विश्वास दिला सकें और वास्तविक बागवानों को उससे मार्गदर्शन मिल सकें। यह पुस्तक बड़े मज़ेदार तरीके से बीजों की गोलियाँ बनाने की तकनीक से सही भोजन और स्वास्थ्य तथा आधुनिक विज्ञान से जैन दर्शन तक छलाँगे लगाती चलती है। यह शब्दों की किताब सी तो लगती ही नहीं है। इसमें शब्द चित्रों में विलीन हो, समग्र में घुलमिल जाते हैं, और पाठक के पास एक आनंददायक दृष्टि रह जाती है।

रसूलिया में भी, मेरे साथी और मैं जीवन जीने के एक नए तरीके को तलाश रहे थे जो हमें वातावरण, जीवन, लोगों और स्वयं से समन्वय में ला सके। कृषि समग्रता के बीच एक हिस्सा भर था। अत: हमें न तो फुकुओका के सभी वस्तुओं की एकता के विचार से तादात्म्य बनाने में कोई कठिनाई हुई न ही कुछ न करने के उनके दर्शन से।

यह सच था कि हमने इन विचारों को अपनी तरह से समझा था। फुकुओका ने उनकी प्रतिपुष्टि की जिससे हमें बेहद आनंद और संतोष हुआ। दरअसल हमने भी पुआल में क्रांति देखी थी। हमारा विश्वास था कि अगर साधारण भारतीय किसानों में से एक अंश भर भी ऋषि खेती को अपना सके तो कृषि व्यवसाय, उद्योग, सरकार तथा देशभर की शहरी औद्योगिक संरचनाएँ ही ढह जाएंगी। शायद पुआल के तिनके में भी उसी तरह की ताकत थी जो गांधी के चरखे में थी।

पाठकों को इस किताबे का रस लेने को छोड़ू उसके पहले एक बेहद महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर चर्चा कर लेता हूँ। लोग अक्सर पूछते हैं कि फुकुओका की प्राकृतिक खेतीबारी क्या भारत में भी सफल हो सकेगी? अगर हम ठीक वही सब करें जो फुकुओका ने जापान में किया था, तो उत्तर 'ना' है। जापान जैसे छोटे से देश तक में अलग-अलग इलाको के किसानों को भिन्न-भिन्न तकनीकें चुननी होंगी। यह सोचना ही बेतुका होगा कि जो फुकुओका ने शिकोकू में किया वह हम भारत में करें।

पर प्राकृतिक कृषि का विचार अपने आप में सार्वभौमिक रूप से वैध है, अगर इसे इसके वास्तविक अर्थ में समझ लिया जाए कि हम प्रकृति को बिना या कम से कम मानवीय हस्तक्षेप के, स्वयं खेती करने दें। पौधों का लालन-पालन धरती माँ स्वयं करती है, न कि इन्सान। और प्रकृति के पास इस काम के लिए ज़रूरी ज्ञान और सभी आवश्यक संसाधन भी मौजूद हैं। मनुष्य को इस पर बारीक नज़र रखनी चाहिए और जो कुछ भी थोड़ा-बहुत करें उसमें भी पूरी सावधानी बरतनी चाहिए।

इस अर्थ में धरती पर वह कौन सा स्थान है जहाँ ऋषि खेती नहीं की जा सकती? सच तो यह है कि दो कारणों के चलते प्राकृतिक खेती के लिए भारत जापान से बेहतर स्थान है : अव्वल तो

फसल बढ़ने-पकने का हमारा मौसम अधिक लंबा होता है, दूसरे हमारे यहाँ पेड़-पौधों और प्राणि जगत की विविधता भी कहीं अधिक है। 1987 में अपनी रसूलिया यात्रा के दौरान फुकुओका भी इससे सहमत थे।

हमने रसूलिया में तकरीबन आठ वर्षों तक ऋषि खेती की। मैं पूरे विश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि समुदाय को हरेक तरीके से लाभ ही हुआ। पहले मुझे अधिक और मौलिक लाभों की बात करने दें।

पहले ही दिन से खेतीबारी से होने वाला शुद्ध लाभ विस्तृत होने लगा। तीन सालों में हमारा खेत अतिरिक्त फसल देने लगा और 1987 तक, जब मैंने रसूलिया छोड़ा हमारी शुद्ध आय लगातार सुधरती गई। सौ वर्षों में पहली बार संस्था के रूप में फ्रेंडस रूरल सेंटर वित्तीय रूप से आत्मनिर्भर बना। हमने लंदन स्थित क्यूपीएस से वित्त लेना बंद किया, जैसा हम संस्था की स्थापना से प्रत्येक वर्ष करते आए थे।

इस सबका स्पष्टीकरण बड़ा आसान है। हमारे निवेश का खर्च कम हो गया था जबकि उत्पादकता तुलनात्मक रूप से अधिक बनी ही थी। रासायनिक खाद का उपयोग बंद करने से और ट्रैक्टर बेच डालने से हम प्रतिवर्ष कम से कम 50,000 रुपए की बचत कर पा रहे थे। मज़दूरी पर आने वाला खर्च पहले से कम हो गया था। पशुओं के चारे में आत्मनिर्भरता ने भी काफी राशि की बचत की। पशुओं की खुली चराई ने उनके स्वास्थ्य को बेहतर बनाया और पशुओं की देखभाल के खर्च को कम किया। बीज और उपकरणों पर खर्च कमोबेश समान रहा पर उनकी बिक्री से होने वाली आय बढ़ी थी।

ज़ाहिर है कि यह सब आसानी से नहीं हो पाया था। कई छोटी और बड़ी विफलताओं आलोचनाओं का सामना हमने किया और काफी तनावों को भी झेला। उदाहरण के लिए खाद का उपयोग अचानक बंद करने पर गेहूँ की फसल नीचे गिरी। क्योंकि हम जानते थे कि मेक्सिकन बौने गेहूँ को रासायनिक खाद की लत पड़ चुकी है, हमें गड़बड़ का अंदेशा था। इसलिए हमने इसे छोटे खेत में ही बोया था। बाद में तमाम परेशानियों को झेल हम स्थानीय मज़बूत किस्म का गेहूँ तलाश पाए और अपने उपयोग के लिए छोटी मात्रा में उसे उगा पाए। हम सफलतापूर्वक रागी, जई (राय) ओर गेहूँ सरीखे अनाज भी उगा पाए। समुदाय में सबने इन स्वादिष्ट अनाजों का आनंद लिया। हमने बाज़ार के लिए गेहूँ उगाना बंद किया। उसके बदले हमने तिपतिया के बीज, सोयाबीन, दालें व अन्य फसलों का उत्पादन बढ़ाया। तैयार बाज़ार और ऊँची दर के कारण तिपतिया के बीजों ने अच्छी कमाई करवाई। फली लेग्यूम होने के कारण इसने हमारी मिट्टी को उपजाऊ बनाया, जो बोनस था।

हमे बचाने वाला दरअसल चावल था। उसके साथ हमारा अनुभव नहीं भूलूँगा। बिना खाद के धान की हमारी पहली फसल करीब बीस दिन की हो गई थी। बाला, हमारे खेत के कर्ता-धर्ता ने मुझे अपने साथ खेत चलने को कहा। धान के हल्के हरे पौधों की ओर इशारा कर उसने कहा, "ये खाद माँग रहे हैं।" वे सचमें नए शहरी बाबू को गालियाँ दे रहे थे जो खेतीबारी के बारे में कुछ नहीं जानता था। भाग्य से समुदाय रासायनिक खाद का उपयोग न करने के निर्णय पर अड़ा रहा। और भी सौभाग्य यह रहा कि धान के पौधों ने अपनी देखभाल खुद करनी सीखी और उनकी हालत सुधर गई। हमने उनकी मदद सिर्फ गारे की अतिरिक्त खुराक और सिंचाई के पानी में ताज़ा गोबर घोल कर की।

रसूलिया में धान प्राकृतिक कृषि से अनुकूलित हो गया। यह बदलाव चावल की लम्बाई, आकार रंग और सुगंध में देखा जा सकता था। उपज की मात्रा साल दर साल बढ़ती गई और कुछ खेतों से प्रति एकड़ 20 क्विंटल धान मिलने लगा। हमारी कुल उपज क्षेत्र में सबसे अधिक थी। आस-पास और दूर-दराज के किसान हमारी खड़ी फसल को देखने आने लगे। उनमें से कई यह विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि हमने कोई खाद इस्तेमाल नहीं की है। कुछ हमारे खेत-मज़दूरों से अकेले में तहकीकात करते की कहीं हम जालसाजी तो नहीं कर रहे।

हमारे किसान मेहमान जुताई के विरोध से उलझन में पड़ जाते। मैं कुछ मिट्टी खोद उन्हें दिखाता कि हमारे यहाँ कितने ज्यादा कीड़े केंचुए हैं। यह समझने में किसानों को कोई दिक्कत नहीं होती कि ये ही हमारे जुताई मजदूर हैं। मैं उनसे पूछा करता कि जब इतने लाखों अथक जुताईकर्मी हों तो हमें खेत को जोतने की भला ज़रूरत ही क्या है? कुछ चौकन्ने मेहमान खरपतवार, जाले, मेंढ़क, श्वाल और हमारे खेतों में अव्यवस्था की ओर संकेत करते। मैं उनसे कहता कि वे अपनी फसलों की हमारी फसलों से तुलना करें तो हमारे निवेश व्यय को कम और उपज को अधिक पाएँगे। चुनाव उनको करना है। इससे अधिकांश चुप हो जाते।

एक आनुवांशिकी-विज्ञानी मित्र डॉ.आर.एच रिछारिया ने धान को लेकर हमारी सफलता को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि भारत का मध्य क्षेत्र धान के पौधों का घर है, सो वह यहाँ सहज रहता है और उसे उगाने की स्थितियों में आए बदलावों से आसानी से अनुकूलित हो जाता है। उन्होंने हमें बताया कि सूरत से लेकर कटक तक के 200 मील चौड़ी पट्टी में संभवत: धान की 40,000 किस्में हैं। इनमें से 20,000 किस्मों को उस सरकारी बीज बैंक में एकत्रित और दज किया गया था, जिससे वे ताउम्र जुड़े रहे थे। अधिक उपज देने वाली जिन किस्मों को हम उगा रहे थे वे ऐसी थीं जिन्हें जैव इंजीनियरिंग द्वारा अधिक नुकसान नहीं पहुँचाया गया था। उनमें वह जैव संभावना बची हुई थी कि वे समुचित जड़ें पैदा कर सकें ताकि जैव-पदार्थों से पोषण पा सकें। यही कारण था कि हमारे धान के पौधों ने खाद माँगनी बंद कर दी जब उन्हें लगा कि उनके समुदाय का यह नवागुंतक बेहद अड़ियल है।

रसूलिया में अपने प्रयोगों के दौरान हमने कई दूसरी रोचक चीज़ें भी सीखीं। कुछ उदाहरण पाठकों को यह संकेत देंगे कि प्रकृति ने किस तरह की चीज़ें उजागर कीं।

दुनिया भर में, सम्य लोगों के बीच 'खरपतवार' को दुश्मन माना जाता है। उन्हें उखाड़ने में ढेर ऊर्जा लगाई जाती है। खेतीबारी का सबसे कठिन और सबसे लाभदायक काम गुड़ाई ही माना जाता है। लोग अपनी फसलों के नीचे, 'साफ' धरती देखना चाहते हैं। उनका सोचना है कि अगर मिट्टी में खरपतवार नहीं रहेगी तो उनकी वनस्पतियों को बिना स्पर्धा के सारा पोषण मिलेगा।

रसूलिया में सीखेगए पाठों में एक पाठ था कि खरपतवार संबंधी लोकप्रिय धारणा गलत है, और हमें उन्हें अपना दुश्मन नहीं बल्कि दोस्त मानना चाहिए। जब भूमि को खोदा जाता है और

बरसात, धूप और हवा के सामने नंगा कर दिया जाता है तो उसका क्षरण होने लगता है। ऐसे में क्षरण को रोकने का प्रकृति का सबसे कारगर औज़ार है मृत पत्तियों और जीवित पौधों की ढकावन। पता यह लगा है कि जोती गई ज़मीन पर खरपतवार ढिठाई से फिर से उग आने का एक कारण यह है कि वह ज़मीन जोती गई। जैसे ही हम जुताई बंद करते हैं, खरपतवार अनावश्यक बन जाती है और कमज़ोर पड़ जाती है।

हमने रसूलिया में पाया कि अगर धरती पर ढ़कावन का सभी फसलों को फायदा होता है। अक्सर ये तथाकथित खरपतवार अपने मेज़बान को पोषण देने के लिए, अपने ग्रंथियों में नाइट्रोजन एकत्रित कर लेते हैं। वे मिट्टी को मुलायम और हवादार बनाते हैं; अक्सर वे नुक्सानदेह कीटों को दूर भगाते हैं। हम उपयुक्त खरपतवारों के बीज एकत्रित करते और फसल बोते समय उन्हें भी बोते ताकि ढ़कावन उपलब्ध हो। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ मैं सुझाव देता हूँ कि लोग अपनी सब्ज़ियों और फूलदार गमलों को ढकें। अगर लोग यह आसान व उपयोगी आदत डाल लें तो वे काफी मेहनत बचा सकते हैं। इससे भारी मात्रा में जैविक सामग्री का पुर्नउपयोग हो सकेगा। कचड़े के ढ़ेर गायब हो जाएँगे। सब्ज़ियों का उत्पादन बढ़ेगा। मिट्टी स्वस्थ हो सकेगी। फूल भी अधिक सुंदर बन जाएँगे।

जिन खाद्य पौधों को घरेलू बना लिया जाता है वे अपनी प्राकृतिक जीवन्तता खो देते हैं। ऐसे में उन्हें बचे रहने के लिए इन्सान के हस्तक्षेप की ज़रूरत होती है। यही कारण है कि किसान खेतों को जोतने से शुरुआत करते हैं। परन्तु फसल को बोने और उगाने के कई अन्य तरीके भी हैं। एक तरीका जो हमें बेहद कारगर लगा वह था दलहनों की मजबूत किस्मों को उगाना जैसे मेथी, तुअर और सोयाबीन।

हम अनजुते खेत में नवंबर में तिपतिया के बीजों का छिड़काव कर देते। अगर जमीन गीली और मौसम ठंडा हो तो तिपतिया किसी भी तरह के खरपतवार के बीच उग जाती है। जब यह छह से आठ इंच की हो जाए तो हम उसे काट खेत को साफ कर देते। तिपतिया को काटना पसंद है, तीन कटाई के बाद जबकि अन्य किस्म की खरपतवार गायब हो जाती और सिर्फ तिपतिया बची रहती। अप्रेल के महीने में जब मौसम गर्म होने लगता, तिपतियाँ में बीज जल्दी लगते जिन्हें मई के अंत तक इकट्ठा किया जा सकता है। कटा हुआ तिपतिया पशुओं के लिए बढ़िया चारा है और उसके बीजों का बाज़ार अच्छा है।

रसूलिया में तिपतिया हमारी सबसे फायदेमंद फसल बनी। जिन खेतों में हम जुलाई में धान बोते, उन्हीं खेतों में नवंबर में धान कटाई से तकरीबन दो सप्ताह पहले हम धान की खड़ी फसल के दौरान ही तिपतिया के बीज छिड़क देते। हमारे कुछ खेतों में हमने चार सालों तक यह जारी रखा। हमारी फसल उम्दा हुई और मिट्टी भी सुधरीं। हम बची हुई पुआल का अधिकांश हिस्सा और गोबर मिट्टी को लौटा देते।

खेतों से खरपतवार हटाने के लिए इसी तरह तुअर (अरहर) का उपयोग भी किया जा सकता है। तुअर के बीजों को तीन फीट की दूरी पर छेद कर बोया जाना चाहिए। जब पौधे अठारह से बीस इंच के हो जाएं, तो खरपतवार को काट वहीं गिरा देना चाहिए। यह प्रक्रिया करीब महीने

भर बाद फिर से दोहरानी चाहिए। तब तब अरहर अच्छी तरह जम जाएगी और शेष पौधों को ढक सकेगी।

मैं चेतावनी के साथ बात समाप्त करना चाहूँगा। जो कुछ रसूलिया में कारगर रहा, वह अन्य स्थानों पर कारगर हो भी सकता है और असफल भी हो सकता है। इसलिए क्योंकि अलग-अलग इलाकों की मिट्टी और वातावरण में भिन्नता होती है। हर जगह के किसानों को अपने यहां के वातावरण को ठीक से देख-समझ कर परखना चाहिए। प्राकृतिक कृषि हमें प्रकृति की उस समझ को अपने अंदर उतारने में मदद करती है जो प्रकृति हमें बड़ी उदारता से पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और मिट्टी के द्वारा हर समय हमें उपलब्ध कराती है।

प्रताप अग्रवाल

राजू टाइटस बताते हैं कि जापान में जौ और गेहूं दोनों गेहूं की ही प्रजातियां हैं। फुकुओका विदेशी गेहूं के पक्ष में यूं भी नहीं थे और जगह-जगह उनके लेखन में जंगली गेहूं का ही ज़िक्र अधिक है।

प्रस्तावना

दक्षिणी जापान के शिकोकू द्वीप में बसे एक छोटे-से गाँव के पास मासानोबू फुकुओका कुदरती खेती की एक ऐसी विधि विकसित करने में जुटे हैं जो आधुनिक कृषि की विनाशकारी दिशा और गति को उलट सकती है। प्राकृतिक कृषि में न मशीनों की जरूरत पड़ती है, न रसायनों की, और खरपतवार हटाने की भी कम-से-कम ज़रूरत पड़ती है। श्री फुकुओका खेतों में हल नहीं चलाते, न ही तैयार जैविक खाद का प्रयोग करते हैं। वे धान के खेतों में पौध बढ़ने के दौरान पानी भरकर नहीं रखते, जैसा कि पूरब के ओर दुनिया-भर के तमाम किसान शताब्दियों से करते आए हैं। उनके खेत की मिट्टी पर पिछले पचीस सालों से भी अधिक समय से हल नहीं चला है, फिर भी उनकी उपज जापान के सबसे उपजाऊ खेतों की तुलना में कम नहीं है। उनकी खेती के तरीके में दूसरे तरीकों से कम मेहनत लगती है। यह विधि प्रदूषण नहीं पैदा करती और इसमें पेट्रोल-डीजल जैसे जीवाश्म तेलों का उपयोग भी नहीं होता।

मैंने जब पहले-पहल श्री फुकुओका के बारे में किस्से सुने तो मुझे खास विश्वास नहीं हुआ। एक अनजुते खेत की सतह पर धान और सर्दियों के अनाज के बीज बिखेर कर साल-दर-साल अच्छी फसल पैदा करना कैसे संभव हो सकता है भला? जरूर कुछ ओर भी राज़ होगा।

मैं पिछले कई सालों से दोस्तों के एक समूह के साथ क्योटो के उत्तर में स्थित पहाड़ियों के एक खेत में रह रहा था। हम जापानी कृषि के परंपरागत तरीकों से धान, जई, जौ, सोयाबीन और साग-सब्ज़ियाँ उगाते थे। हमारा खेत देखने आने वाले कई मेहमान अक्सर श्री फुकुओका के काम का ज़िक्र करते। पर उनमें से कोई भी उनके खेत पर इतने लंबे समय तक नहीं रहा था कि उनकी तकनीक की बारीकियों को जान सके, फिर भी उनकी बातचीत ने मेरी जिज्ञासा को जगाया।

हमारे काम में जब भी फालतू वक्त बचता, तो मैं जापान के दूसरे हिस्सों की यात्रा पर निकल पड़ता और रास्ते में पड़ने वाले खेतों व समुदायों (कम्यून्स) में कुछ समय काम करता। ऐसी ही एक यात्रा के दौरान मैं श्री फुकुओका के खेत पर गया ताकि खुद ही उनके काम को जान-समझ सकूँ।

कह नहीं सकता कि मैंने उनके कैसे व्यक्ति होने की उम्मीद बना रखी थी, पर उस महान् शिक्षक के बारे में इतना कुछ सुन रखा था कि एक सामान्य औसत जापानी किसान के-से जूतों और कामकाजी कपड़ों में उन्हें देख मुझे कुछ अचरज हुआ। फिर भी उनकी सफेद दाढ़ी, उनका चौकन्नापन और आत्मविश्वास से भरे आचरण से यह अवश्य लगा कि मैं एक असाधारण व्यक्तित्व के सामने हूँ।

उस पहली यात्रा के दौरान मैं श्री फुकुओका के खेत में कई महीनों रहा, उनके खेतों और फल-बागान में काम करता रहा। वहीं मिट्टी की दीवारों वाली कुटियों में अन्य छात्र खेत-श्रमिकों के साथ

शाम को होने वाली चर्चाओं द्वारा श्री फुकुओका की विधि और उसमें निहित दर्शन धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा।

श्री फुकुओका का फल-बागान मात्सुयामा खाड़ी को देखती पहाड़ियों में है। यही वह 'पहाड़' है जहाँ उनके छात्र रहते और काम करते हैं। उनमें से अधिकांश वैसे ही आ पहुँचते हैं जैसे मैं आया था, पिठिया-झोला लादे और इस बात से बेखबर कि उन्हें किस बात की उम्मीद है। वे कुछ दिन या कुछ सप्ताह टिकते हैं और तब पहाड़ी उतर गायब हो जाते हैं। पर सामान्यत: चार-पाँच लोगों का एक केन्द्रीय समूह भी होता है जो लगभग साल भर टिकता है। विगत सालों में कई-कई लोग, स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही यहाँ रहने और काम करने आए हैं।

यहाँ आधुनिक साधन-सुविधाएँ नहीं हैं। पीने का पानी झरने से भरकर ढोकर लाना पड़ता है, खाना लकड़ी के चूल्हे पर पकता है और रोशनी, मोमबत्तियों या केरोसीन के लालटेनों से मिलती है। पहाड़ पर तरह-तरह की जंगली जड़ी-बूटियों और सब्ज़ियों की भरमार है। मछली और घोंघे, पास की नदी से मिलते हैं और समुद्री सब्ज़ियाँ कुछ मील दूर स्थित इनलैण्ड सागर से।

खेती के काम मौसम और ऋतुओं के हिसाब से बदलते हैं। काम सुबह आठ बजे शरु होता है, दोपहरी के खाने के लिए एक घण्टे काम बंद होता है (भरी गर्मियों में यह समय खिंच कर दो या तीन घण्टे का हो जाता है); छात्र गोधूलि के कुछ पहले अपनी-अपनी कुटियों में लौटते हैं। खेती से जुड़े कामों के अलावा रोज़मर्रा के दूसरे काम भी होते हैं- पानी भरना, जलावन की लकड़ी काटना, खाना पकाना, नहाने का पानी गर्म करना, बकरियों की देखभाल, मुर्गियों को दाना देना, कुटियों की मरम्मत ओर कभी-कभार नई झोंपड़ी का निर्माण, मीसो (सोयाबीन की पीसी हुई पिट्ठी) और टोफू (सोयाबीन का पनीर) बनाना।

श्री फुकुओका पूरे समुदाय के मासिक खर्च के नाम पर 10,000 येन (करीब 35 डॉलर) उपलब्ध करवाते हैं। इसमें से अधिकतर राशि सोया सॉस, वनस्पति तेल व दूसरी ऐसी ज़रूरतों के लिए खर्ची जाती है, जिन्हें छोटे स्तर पर स्वयं बनाना अव्यावहारिक है। बाकी ज़रूरतों के लिए छात्र पूर्णत: खुद उगाई फसलों, स्थानीय संसाधनों और अपनी ही चतुराई पर निर्भर होते हैं। श्री फुकुओका जानबूझ कर छात्रों को इस अर्ध-आदिम तरीके से जीने देते हैं, जैसे वे स्वयं सालों से जीते आए हैं, क्योंकि उनका मानना है कि यह जीवन-शैली उन्हें वह संवेदनशीलता देगी जो प्राकृतिक खेतीबारी की उनकी विधि के लिए आवश्यक है।

शिकोकू के जिस क्षेत्र में श्री फुकुओका रहते हैं, वहाँ तटीय मैदानी क्षेत्र में धान की खेती की जाती है और पास के पहाड़ी इलाके में नींबू प्रजाति के फल लगाए जाते हैं। उनके फार्म में सवा एकड़ धान के खेत हैं और साढ़े बारह एकड़ में मैन्डारिन संतरों के बागान। पश्चिम के किसानों को शायद उनकी जोत-भूमि ज्यादा बड़ी नहीं लगे, पर चूँकि सारा काम परंपरागत जापानी हाथ के औज़ारों से किया जाता है, इस जोत-भूमि को सम्हालने में काफी मेहनत लगती है।

श्री फुकुओका छात्रों के साथ खेतों और फल-बागान में काम करते हैं, पर यह कोई नहीं जानता कि वे कब, किस जगह आ पहुंचेंगे। उन्हें यह कमाल हासिल है कि वे तब हाजिर हो जाते हैं जब उनके आ पहुँचने की कोई आशा न रखता हो। वे ऊर्जावान इंसान हैं, हमेशा किसी-न-किसी विषय पर

बतियाते रहते हैं। कभी-कभार वे सभी छात्रों को इकट्ठा कर काम पर चर्चा करते हैं, और अकसर यह बताते हैं कि कोई काम कैसे अधिक आसानी से और जल्दी किया जा सकता है। दूसरे मौकों पर वे बागान में खरपतवार या किसी रोग को पैदा करने वाली फफूंद के जीवनचक्र के बारे में बताते हैं और कभी रुक कर, याद कर खेती के अपने अनुभव पर विचार करते हैं। अपनी तकनीक सिखाने के अलावा श्री फुकुओका खेतीबाड़ी के मूलभूत कौशल भी सिखाते हैं। औज़ारों की सही देखभाल के महत्व को वे हमेशा रेखांकित करते हैं और उनकी उपयोगिता को प्रदर्शित करने से कभी थकते नहीं।

अगर कोई नवागंतुक इस उम्मीद को संजोए आया हो कि प्रकृति खेती करेगी और वह मज़े से बैठा देखेगा, तो श्री फुकुओका उसे जल्दी ही यह भी सिखा देते हैं कि जानने और करने को बहुत-कुछ है। कायदे से कहें तो पूरी तरह प्राकृतिक खेती तो शिकार और एकत्रण की विधि ही है। कृषि कर फसल उगाना तो एक सांस्कृतिक नवाचार ही है, जिसमें ज्ञान और सतत् प्रयास की ज़रूरत होती है। जो मूल अंतर है वह यह है कि श्री फुकुओका प्रकृति से सहयोग कर खेती करते हैं, न कि उसे 'सुधार' कर, उस पर विजय पाकर।

कई अतिथि सिर्फ एक दोपहर उनके साथ बिताने आते हैं। उन्हें भी श्री फुकुओका बड़े धीरज से फार्म पर सब-कुछ दिखाते हैं। यह असामान्य नहीं कि वे पहाड़ी पगडंडी पर तेज़ कदमों से चढ़े चले आएं और दस-पन्द्रह मेहमानों का समूह हाँफते-काँखते उनके पीछे आता दीख पड़े। पर हमेशा से इतने लोग आते रहे हों, ऐसा भी नहीं है। सालों तक, जब वे अपनी विधि विकसित कर रहे थे, श्री फुकुओका का अपने गाँव के बाहर किसी से सम्पर्क न था।

जवानी में श्री फुकुओका अपने गाँव के घर से योकोहामा को निकले ताकि वे एक माइक्रोबायोलोजिस्ट (सूक्ष्मजीवाशास्त्री) के रूप में काम कर सकें। वे पौध रोगों के विशेषज्ञ बने और कुछ वर्षों तक एक प्रयोगशाला में कृषि कस्टम अधिकारी के रूप में काम करते रहे। उसी समय, पच्चीस वर्ष की आयु में उन्हें वह बोध हुआ जो उनके जीवन-भर के कार्य का आधार बना और इस पुस्तक 'द वन स्ट्रॉ रेवॉल्यूशन' का विषय भी। उन्होंने नौकरी छोड़ी और अपने पुश्तैनी गाँव को लौट आए ताकि अपने विचारों को अपने ही खेत में लागू कर उनको जाँच सकें।

कुदरती खेती का मूल विचार उन्हें उस वक्त सूझा जब वे एक ऐसे खेत के पास से गुज़रे जो वर्षों से खाली व अनजुता पड़ा था। उन्होंने वहाँ घास और खरपतवार के झंखाड़ के बीच धान के स्वस्थ पौधे उगे देखे। उस दिन से उन्होंने धान उगाने के लिए खेतों में पानी भर कर रखना बंद कर दिया। साथ ही बसन्त में धान के बीज बोना बंद कर पतझड़ के मौसम में सीधे खेत की सतह पर बीज बिखेरना शुरु किया, ठीक उसी तरह जैसे अगर बीज स्वाभाविक रूप से गिरते तो खेत में बिखरते। हल चलाकर खरपतवार निकालने के बदले उन्होंने खरपतवार को नियंत्रित करने के लिए सफेद तिपतिया का लगभग स्थाई आवरण लगाया और धान और जौ की पुआल बिछाना प्रारंभ किया। एक बार यह सुनिश्चित करने के बाद कि स्थितियाँ उनकी फसल के अनुकूल हैं, श्री फुकुओका खेत में मौजूद पौध व जन्तु समुदायों से यथासंभव कोई छेड़छाड़ नहीं करते।

क्योंकि अधिकांश पश्चिमी लोग, यहाँ तक कि किसान भी, धान और सर्दियों के अनाज के चक्र से परिचित नहीं हैं, और इस पुस्तक में श्री फुकुओका कई बार धान उगाने का उल्लेख करते हैं, शायद

परंपरागत जापानी कृषि के विषय में कुछ बताना मददगार होगा।

पहले धान के बीज मानसून में मैदानों में भरे बाढ़ के पानी में ही छिड़क दिए जाते थे। बाद में निचले मैदानी भागों को सीढ़ीदार बनाया गया, ताकि बाढ़ उतरने के बाद भी खेतों में पानी भरा रहे।

दूसरे विश्वयुद्ध तक जापान में धान उगाने की परंपरागत विधि यह थी कि बीज प्रारंभिक क्यारियों में सावधानी से बो दिए जाते थे। तब खेत में कम्पोस्ट व खाद छिड़का जाता था और उसमें पानी भर कर हल चलाया जाता था, जिससे मिट्टी कादे में बदल जाती थी। जब क्यारियों में पौधे तकरीबन आठ इंच लंबे हो जाते थे, उन्हें हाथों से खेतों में रोपा जाता था। लगातार काम करने वाला अनुभवी किसान दिन-भर में एक तिहाई एकड़ में पौधे प्रत्यारोपित कर पाता है, पर यह काम हमेशा ही कई लोग साथ मिलकर करते हैं।

पौधे प्रत्यारोपित करने के बाद कतारों के बीच के हिस्सों को जोता जाता है। तब हाथों से खरपतवार निकाली जाती है और कई बार उसे ढकावन से ढका जाता है। तीन माह तक खेतों में मिट्टी की सतह से एक इंच ऊपर तक पानी भरा रहता है। कटाई हाथ की दरांती से होती है। धान के कटे पौधों के गुच्छों को लकड़ी या बाँस की ताखों से कुछ सप्ताह सूखने के लिए लटकाया जाता है और तब फटकार कर धान निकाला जाता है। रोपाई से कटाई तक खेत के चप्पे-चप्पे पर कम से कम चार बार हाथ से काम किया जाता है।

जैसे ही धान की कटाई पूरी होती है, खेत को जोता जाता है और तब उसे एक फुट चौड़ी सपाट क्यारियों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्यारी दूसरी से नालियों के द्वारा कटी होती है। जई और जौ के बीज बिखेर, उन्हें मिट्टी से ढक दिया जाता है। यह चक्र इसलिए संभव हो सका है क्योंकि न केवल समय पर बिजाई का ध्यान रखा जाता है बल्कि खेतों में जैविक पदार्थ और पोषक तत्वों की आपूर्ति का भी ध्यान रखा जाता है। यह तथ्य गौर करने लायक है कि जापानी किसान परंपरागत विधि से हर साल उसी खेत में न केवल धान की फसल लेते हैं। बल्कि सर्दियों के अन्न भी उगा पाते हैं। ऐसा वे शताब्दियों से करते आए हैं और फिर भी उनकी मिट्टी की उर्वरता कम नहीं हुई है।

श्री फुकुओका परंपरागत कृषि की कई बातों का महत्व स्वीकारते हैं, पर साथ ही उनका मानना है कि इसमें तमाम ऐसे काम भी किए जाते हैं जो अनावश्यक हैं। वे अपनी विधि को 'कुछ न करो' कृषि कहते हैं और दावा करते हैं कि कोई इतवारी किसान (जो हर सप्ताह सिर्फ रविवार को ही काम करे) भी इस विधि से अपने परिवार के लिए पर्याप्त अन्न उगा सकता है। पर उनका मतलब यह कतई नहीं है कि उनकी तरह की खेती बिना श्रम और कोशिश के की जा सकती है। उनका फार्म जिस स्थिति में रहता है, उसे वैसा बनाये रखने के लिए नियमित रूप से व समयानुसार किए जाने वाले तमाम काम हैं। जो कुछ किया जाता है वह न केवल सही तरीके से किया जाता है, बल्कि संवेदनशीलता के साथ किया जाता है। जब किसान एक बार यह तय कर ले कि जमीन के इस टुकड़े पर धान और सब्ज़ियाँ उगानी हैं, और बीज बिखेर दे, तो उसे उस जमीन के टुकड़े की देखभाल की समूची ज़िम्मेदारी निभानी ही पड़ती है। प्रकृति के साथ दखलन्दाज़ी करने के बाद उसे उसके हाल पर छोड़ना नुकसानदेह होने के साथ गैर-ज़िम्मेदाराना हरकत भी है।

पतझड़ के मौसम में श्री फुकुओका धान, सफेद तिपतिया और सर्दियों के अनाज के बीज एक साथ, एक ही खेत में बिखेरते हैं और उसे पुआल की मोटी तह से ढक देते हैं। जई और जो तो तुरन्त फूट जाते हैं, पर धान के बीज बसन्त तक सुस्ताते हैं।

जिस दौरान निचले खेतों में सर्दियों के अन्न बढ़ते और पकते हैं, उस समय पहाड़ी ढलानों पर फल-बागान गतिविधियों का केन्द्र बन जाता है। संतरों-नारंगियों की फसल मध्य नवम्बर से अप्रैल तक उतारी जाती है।

जई और ज्वार की कटाई मई में हो जाती है और उसे हफ्ते-दस दिन खलिहान में सूखने दिया जाता है। तब अन्न के दाने फटकार कर अलग किए जाते हैं, फूस हटाई जाती है और अनाज को बोरियों में भर भण्डार में सहेज दिया जाता है। इस फसल का सारा पुआल और फूस बिना काटे खेत में ढकावन की तरह बिछा दिया जाता है। तब जून में मानसून की बरसात का पानी कुछ समय तक खेत में ठहरने दिया जाता है ताकि तिपतिया और खरपतवार कमजोर हो जाएँ और धान के बीजों को फूटने का मौका मिल जाए। जैसे ही खेत से पानी निकाल दिया जाता है, तिपतिया फिर से स्वस्थ हो धान के पौधों के नीचे फैल जाती है। तब से कटाई तक, परंपरागत खेती करने वाले किसानों का कठोर परिश्रम का समय होता है, पर श्री फुकुओका के खेतों में इस वक्त सिर्फ नालियों के रखरखाव और खेतों के बीच वाली पगडंडियों से घास हटाने का ही काम रहता है।

धान की कटाई अक्टूबर में होती है। कटे पौधे कुछ समय सूखने दिए जाते हैं, तब धान के दानों को फटकार कर चावल अलग कर लिया जाता है। पतझड़ की बिजाई पूरी होने तक जल्दी पकने वाले मैन्डारिन सन्तरे उतरने को तैयार हो चुकते हैं।

श्री फुकुओका को प्रति चौथाई एकड़ ज़मीन से तकरीबन। 1,100 से 1,300 पाउण्ड* धान की उपज मिलती है। यह उपज उनके इलाके में रसायनों के उपयोग से खेती करने वालों या परंपरागत विधि से अन्न उगाने वाले किसानों के लगभग बराबर है। सर्दियों के अनाज का उनका उत्पादन अक्सर परंपरागत किसानों या रसायनों का सहारा लेने वाले किसानों से अधिक ही होता है ये खेत में नाली बनाकर और ढलान वाली दोनों तरह की खेती करते हैं।

कृषि के तीनों ही तरीकों (प्राकृतिक, परंपरागत और रासायनिक) से होने वाली उपज लगभग बराबर होती है, पर धरती पर उनसे होने वाला असर काफी भिन्न होता है। श्री फुकुओका के खेतों की मिट्टी हर फसल के साथ बेहतर होती जाती है। पिछले पच्चीस वर्षों से उन्होंने हल से जुताई बन्द कर रखी है, तबसे उनके खेतों की उर्वरकता बेहतर हुई है और मिट्टी की नमी को बनाए रखने की क्षमता बढ़ी है। परंपरागत तरीके से खेती करने से मिट्टी की स्थिति जैसी थी, लगभग वैसी कायम रहती है। किसान को जो उपज मिलती है उसका सीधा रिश्ता उस कम्पोस्ट और खाद की मात्रा से होता है जो वह खेत में डालता है। रासायनिक पदार्थों का उपयोग करने वाले किसानों के खेतों की मिट्टी कुछ ही समय में अपने मौलिक उपजाऊपन को खो, निर्जीव बन जाती है।

---

* होशंगाबाद के राजू टाइटस जिनके फ़ार्म को देखने फुकुओका दो बार आए थे, बताते हैं कि फुकुओका के अनुसार 1 वर्ग मीटर से 1 किलो अनाज प्राप्त होता है। और प्रति चौथाई एकड़ से एक टन से भी अधिक।

श्री फुकुओका की पद्धति का सबसे बड़ा फायदा यह कि इससे धान के खेतों में पूरे समय पानी भरा रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसे कम ही लोग संभव मानते हैं। पर यह संभव है और श्री फुकुओका का कहना है कि धान इस तरीके से बेहतर पनपता है। उनके पौधों के तने मजबूत होते हैं और जड़ें अधिक गहराई तक जाती हैं। जिस पुराने लसदार किस्म का चावल वे उगाते हैं, उसकी हर बाली में 250 से 300 दाने लगते हैं।

ढकावन का प्रयोग मिट्टी में नमी सोखने और बनाए रखने की क्षमता बढ़ाता है। कई जगहों पर प्राकृतिक खेती करने पर सिंचाई की आवश्यकता को पूरी तरह हटाया जा सकता है। ऐसे में उन स्थानों पर भी धान और अधिक उपज देने वाली फसलें उगाई जा सकती हैं जिन्हें पहले अनुपयुक्त माना जाता था। चढ़ाई वाले व अन्य ऐसे ही स्थानों पर भी भू-क्षरण के खतरे के बिना खेती की जा सकती है। लापरवाही से की गई खेती या रासायनिक खेती से क्षतिग्रस्त ज़मीनों को भी प्राकृतिक खेती से धीमे-धीमे ठीक किया जा सकता है।

पौध-रोग और कीट, खेतों और फल-बागान में बाकायदा हैं, पर फिर भी उनसे फसल का नाश नहीं होता। नुकसान सिर्फ उन्हीं पौधों को होता है जो सबसे कमज़ोर हों। श्री फुकुओका आग्रहपूर्वक कहते हैं कि रोग और कीट-नियंत्रण का सबसे अच्छा उपाय है फसलों को स्वस्थ वाताकरण में उगाना।

श्री फुकुओका के फल-बागान के पेड़ों को आसानी से फल इकट्ठा करने के मकसद से छांटकर नाटा या चौड़ा नहीं फैलाया जाता, बल्कि उन्हें उनके प्राकृतिक आकारों में बढ़ने दिया जाता है। बागान के ढलानों पर सब्ज़ियाँ और बूटियाँ उगाई जाती हैं, पर इसके लिए भी मिट्टी की न्यूनतम तैयारी की जाती है। बसन्त में लंबी बरसात शुरु होने के पहले बरडॉक, पत्तागोभी, मूली, सोयाबीन, सरसों, शलजम, गाजर व अन्य सब्ज़ियों के बीज साथ मिलाकर पेड़ों के बीच की खुली जगह में उगने के लिए बिखेर दिए जाते हैं। ज़ाहिर है कि इस तरह की बिजाई सभी जगहों पर कारगर नहीं होगी। पर जापान में यह बढ़िया रहती है, क्योंकि यहाँ की जलवायु नम है और बरसात भरोसेमन्द तरीके से बसन्त के महीनों में जरूर होती है। श्री फुकुओका के फल-बागान की मिट्टी चिकनी है। उसकी ऊपरी सतह जैविक पदार्थों से भरपूर है, भुरभुरी है, और उसमें नमी बनाए रखने की क्षमता है। यह तिपतिया और खरपतवार की परत के कारण संभव हुआ है, जो पिछले कई सालों से बागान में उगते रहे हैं।

जब सब्ज़ियों के पौधे नन्हे होते हैं उस समय खरपतवार काटनी पड़ती है, पर जब वे ठीक से जम जाते हैं तो उन्हें स्वाभाविक वानस्पतिक सतह के साथ बढ़ने के लिए छोड़ दिया जाता है। कुछ सब्ज़ियों को इकट्ठा नहीं किया जाता, उनके बीज स्वत: ही गिरते हैं, एक-दो पीढ़ियों के बाद उनका स्वाद उनके जंगली पूर्वजों की तरह हलका कसैला हो जाता है। कई सब्ज़ियाँ यों बिल्कुल बिना देखभाल के ही उगती जाती हैं। जब मैं, यहाँ आया ही आया था, एक दिन बागान के दूर-दराज़ के हिस्से में टहलने निकल गया। अचानक मेरा पैर लंबी घास के नीचे, किसी कड़ी चीज़ से टकराया। झुक कर बारीकी से देखने पर मैंने पाया कि वह एक खीरा था और पास ही तिपतिया के बीच मुझे स्क्वॉश भी दिखाई दिया।

कई वर्षों तक श्री फुकुओका अपनी विधि के बारे में किताबों और पत्रिकाओं में लिखते रहे, उन्होंने रेडियो व टेलीविज़न पर कई साक्षात्कार भी दिए, पर किसी ने उनके उदाहरण की नकल नहीं

की। उस समय जापानी समाज पूरे संकल्प के साथ ठीक विपरीत दिशा में बढ़ा जा रहा था।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमरीकियों ने जापान को आधुनिक रासायनिक कृषि से परिचित करवाया। इससे जापानी किसानों को उपज तो लगभग उतनी ही मिलती रही जितनी परंपरागत विधि से खेती करने पर मिलती थी, पर उनका श्रम और लगने वाला समय पहले से आधा हो गया। यह तो कुछ ऐसा था मानो कोई सपना साकार हुआ हो और एक ही पीढ़ी में सभी किसान रासायनिक खेती करने लगे।

जापानी किसानों ने शताब्दियों से बदल-बदल कर फसलें उगाकर, कम्पोस्ट व खाद डालकर, सतही फसलें लगा, मिट्टी में जैविक पदार्थों को कायम रखा हुआ था। जैसे ही यह सब करना बंद हुआ और तेजी से असर करने वाली रासायनिक खादों को इस्तेमाल शुरु हुआ, एक ही पीढ़ी में मिट्टी में ह्यूमस (मृत वनस्पति) की मात्रा खत्म हो गई। मिट्टी की गुणवत्ता घटने लगी, फसलें कमज़ोर हो रासायनिक पोषणों पर निर्भर हो गईं। इस नई कृषि प्रणाली में मानव व पशु श्रम में आई कमी की आपूर्ति धरती की उर्वरता के दोहन से होने लगी।

गत चालीस वर्षों से श्री फुकुओका उद्विग्न मन से जापान की भूमि और समाज का लगातार ह्रास होता देख रहे हैं। जापान ने पूरी एकाग्रता से आर्थिक व औद्योगिक विकास के अमरीकी मॉडल का अनुसरण किया है। किसान क्रमशः ग्रामीण इलाकों से निकलकर औद्योगिक केन्द्रों में बसने लगे हैं। जिस गाँव में श्री फुकुओका पैदा हुए थे और जहाँ उनका परिवार शायद पिछले 1400 वर्षों से रहता रहा था, उस स्थान पर मात्सुयामा शहर का उपनगर बढ़ आया है। एक राष्ट्रीय राजमार्ग (हाईवे) मय साके की खाली बोतलों के कबाड़ के साथ श्री फुकुओका के धान के खेतों की बीच से गुज़रता है।

यद्यपि वे अपने दर्शन को किसी विशेष धार्मिक पंथ या संगठन से नहीं जोड़ते, श्री फुकुओका की शब्दावली और उनकी शिक्षण पद्धति झेन बौद्धधर्म तथा ताओवाद से प्रभावित है। वे कभी-कभी बाईबल को उद्धृत करते हैं, या यहूदी-ईसाई दर्शन व धर्म के मार्फत् किसी बिन्दु को स्पष्ट करते हैं या चर्चा को आगे बढ़ाते हैं।

श्री फुकुओका की मान्यता है कि प्राकृतिक खेती व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वास्थ्य से जुड़ी है। वे ज़मीन के उपचार व आत्मा की शुद्धि को एक ही प्रक्रिया मानते हैं और वे ऐसी जीवन-शैली व कृषि-पद्धति प्रस्तावित करते हैं जिसमें उपरोक्त प्रक्रिया संभव हो सके।

यह मानना अव्यावहारिक होगा कि श्री फुकुओका के जीवनकाल में व मौजूदा परिस्थितियों में उनका सपना वास्तविकता का रूप ले सकेगा। तीस वर्षों बाद भी उनकी तकनीकें क्रमिक रूप से विकसित हो रही हैं। उनका बड़ा योगदान यही है कि उन्होंने दर्शा दिया है कि आध्यात्मिक स्वास्थ्य स्थापित करने की दैनिक प्रक्रिया विश्व में एक व्यावहारिक व लाभदायक परिवर्तन ला सकती है।

आज जबकि रासायनिक कृषि के दूरगामी दुष्प्रभावों को आमतौर पर पहचाना जा चुका है, कृषि की वैकल्पिक विधियों में लोगों की रूचि बढ़ी है। श्री फुकुओका जापान में कृषि क्रान्ति के प्रमुख प्रवक्ता हैं। अक्तूबर, 1975 में 'द वन स्ट्रॉ रेवॉल्यूशन' के प्रकाशन के बाद जापानियों में भी कुदरती खेती का प्रचार तेज़ी से हुआ है।

जिन डेढ़ वर्षों तक मैंने श्री फुकुओका के साथ काम किया, मैं अक्सर क्योटो स्थित अपने फार्म को लौटता रहा। वहाँ सभी लोग खेती के इस नए तरीके को आजमाने को बेताब थे और धीरे-धीरे हमारी ज्यादातर जोत में प्राकृतिक खेती की जाने लगी।

धान और जई को परंपरागत रूप से बदल-बदलकर बोने के अलावा हमने गेहूँ, जंगली गेहूँ (बक व्हीट), आलू, मक्का और सोयाबीन भी श्री फुकुओका के तरीके से उगाई। मक्का व अन्य कतारबद्ध फसलें, जो धीमे-धीमे फूटती हैं, उन्हें बोने के लिए हम लकड़ी या बाँस के टुकड़े से मिट्टी में छेद कर, उन छेदों में एक-एक बीज डाल देते थे। हम मक्का के साथ सोयाबीन भी बो देते थे, जिसके बीजों को मिट्टी की गोलियों में लपेट, खेत में बिखेर दिया करते थे। तब हम खेत की सतह पर फैली सफेद तिपतिया और खरपतवार को हलका-सा काटकर उस पर पुआल बिछा देते थे। तिपतिया फिर से उग आती थी, पर तब, जब मक्का और सोयाबीन के पौधे पक्की तरह जम चुके हों।

श्री फुकुओका के सुझावों से हमें मदद ज़रूर मिली, पर हमें खुद गलतियाँ कर भी अपने तरीकों को स्थानीय स्थितियों के हिसाब से बदलते रहना पड़ा। हमें शुरुआत से पता था कि हमारी ज़मीन और हमारी आत्माओं को बदलकर कुदरती खेती को अपने लायक बनने में कुछ ऋतुओं से अधिक समय लगेगा। यह संक्रांतिकाल एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया बन चुका है।

लैरी कॉर्न

एक तिनके से क्रांति

I

देखो अनाज के इस दाने को

मेरा विश्वास है कि पुआल के इस एक तिनके से एक क्रांति की शुरुआत हो सकती है। धान की पुआल का यह तिनका यों नज़र डालने पर हलका और मामूली लग सकता है। शायद ही कोई इस बात पर विश्वास करे कि वह एक क्रांति की शुरुआत कर सकेगा। पर मैंने इसके वज़न और ताकत को पहचान लिया है। मेरे लिए यह क्रांति एक खरी सच्चाई है।

जई और जौ के इन खेतों को देखो। यह पकती हुई फसल प्रति चौथाई एकड़ 1300 पाउण्ड (1 टन) अनाज देगी। मेरा मानना है कि यह एहिमे जिले की अधिकतम फसल के समान है। और अगर यह सच में एहिमे जिले की सबसे अच्छी फसल के बराबर है – तो बड़ी आसानी से देश भर के अधिकतम उत्पादन के बराबर भी होगी, क्योंकि यही तो जापान में सबसे ज्यादा फसल देने वाला कृषि क्षेत्र है। पर आप जिन खेतों को देख रहे हैं वे पिछले पच्चीस सालों से जोते नहीं गए हैं।

बुआई के लिए मैं पतझड़ के मौसम में अलग-अलग खेतों में उस समय जई और जौ के बीज छितराता हूँ जब धान की फसल अभी खड़ी होती है। कुछ सप्ताह बाद धान काट जब चावल इकट्ठा कर लिया जाता है तो इसकी पुआल वापस खेत पर बिछा देता हूँ।

धान की बुआई के लिये भी यही तरीका अपनाया जाता है। सर्दी का अनाज 20 मई के आस-पास काटा जाता है। फसल पूरी तरह पक कर तैयार हो, उसके दो सप्ताह पहले मैं जई और जौ के खेतों में धान बिखेर देता हूँ। सर्दी की फसल कटती है, जई और जौ के दाने अलग कर लिए जाते हैं तो जई और जौ की पुआल वापस खेतों पर बिछा देता हूँ।

मुझे लगता है कि धान और सर्दी के अनाज बोने के लिए एक ही तरीके का इस्तेमाल इस तरह की खेती की विशेषता है। पर एक और अधिक आसान तरीका भी है। अगले खेत की ओर चलते हुए मैं यह दिखाता हूँ कि वहाँ पिछले पतझड़ के मौसम में जब सर्दी के अनाज बोए गए थे, तो उनके ही साथ चावल भी बोया गया था। यानी समूचे साल-भर की बुआई नववर्ष के पहले दिन तक खत्म हो चुकी थी।

शायद आपने गौर किया हो कि इन खेतों में सफेद तिपतिया और खरपतवार भी उगी हुई है। तिपतिया के बीज भी धान के पौधों के साथ ही अक्टूबर के प्रारंभ में यानी जई और जौ बोने के पहले ही रोप दिए गए थे। खरपतवार बोने की चिंता मुझे नहीं करनी पड़ती – वह तो आसानी से खुद-ब-खुद उग आती है।

सो, खेत में बुआई का क्रम कुछ ऐसा होता है : अक्टूबर के प्रारंभ में तिपतिया के बीज धान के पौधों के बीच छितराए जाते हैं; तब मध्य अक्टूबर में सर्दी के अनाज बोए जाते हैं। नवम्बर की शुरुआत में धान की फसल काटी जाती है और तब अगले साल के धान के बीज बोने के बाद खेत पर पुआल बिछा दी जाती है। आपके सामने जई और जौ की जो लहलहाती फसल नज़र आ रही है – वह ठीक इसी तरह उगाई गयी थी।

आज तक भी इन खेतों में पिछले पच्चीस वर्षों में कोई जुताई नहीं हुई है।

चौथाई एकड़ के किसी खेत की देखभाल करनी हो तो एक या दो लोग कुछ ही दिनों में धान और सर्दियों के अनाज बोने का सारा काम आसानी से कर सकते हैं। अनाज उत्पादन का इससे आसान तरीका शायद ही हो।

यह विधि आधुनिक कृषि तकनीकों को पूरी तरह खारिज करती है। यह तरीका वैज्ञानिक ज्ञान और परंपरागत खेतीबाड़ी को मानो रद्द कर देता है। ऐसी खेती से, जिसमें मशीनों, तैयार की हुई खाद और रसायनों का कोई उपयोग न किया गया हो, जापान के औसत खेत के समान उत्पादन या उससे भी अधिक उपज पाना संभव है। इसका सबूत ठीक यहीं आपकी आँखों के सामने पक कर तैयार हो रहा है।

कुछ भी नहीं है यह संसार

हाल में लोग मुझसे यह पूछने लगे हैं कि सालों पहले मैंने इस तरह से खेती करना क्यों शुरु किया? आज तक मैंने इस विषय पर किसी से चर्चा नहीं की। आप कह सकते हैं कि इस पर बातचीत कर पाने का कोई उपाय ही नहीं था। यह तो बस – आप क्या कहेंगे – एक झटका, एक चमक, एक नन्हा-सा अनुभव था, जो एक शुरुआती बिन्दु बन गया।

इस एहसास ने मेरी जिन्दगी ही पूरी तरह बदल डाली। दरअसल ऐसा कुछ नहीं घटा जिस पर सच में बातचीत की जा सके, पर शायद बात कुछ यों कही जा सकती है : "मानवता कुछ नहीं जानती। दरअसल किसी भी चीज में कोई निहित मूल्य नहीं होता और हरेक कृत्य बेकार व बेमानी कोशिश है।" आपको यह सब निरर्थक भी लग सकता है, पर अगर उस एहसास को शब्दों में बाँधना हो तो उसे ठीक इसी तरह कहना होगा।

यह 'विचार' अचानक मेरी खोपड़ी में उस समय पनपा जब मैं काफी जवान था। मुझे यह भी पता न था कि मेरा यह अंदरूनी नज़रिया कि समूची इंसानी समझ और उसकी कोशिशें बेमानी हैं, दरअसल सही भी था या नहीं। पर जब-जब मैंने इन विचारों को जाँचा-परखा, उन्हें उखाड़ फेंकने की कोशिश की, तब-तब मेरे मन-मानस में उनकी कोई काट न खोज पाया। जो मिला वह यही विश्वास था कि यह ठीक ऐसा ही है, और यह विश्वास मेरे भीतर सुलगता आया था।

आम धारणा है कि मानवीय बुद्धिमानी से निराला इस जगत् में कुछ है ही नहीं, कि इंसान ऐसे जीव हैं जिनका विशेष मूल्य है, और उनकी रचनाएँ व उपलब्धियाँ, जो संस्कृति व इतिहास में प्रतिबिम्बित होती हैं, सबसे अद्‌भुत हैं। कम से कम आमतौर पर तो यही माना जाता है।

पर, क्योंकि, जो-कुछ मैं सोच रहा था वह इसी बात का खण्डन था, मैं अपने विचार किसी को बता तक नहीं सका। अंततः मैंने अपने विचारों को एक आकार, एक रूप देने, उन्हें अमल में लाने की ठानी, ताकि यह तय कर सकूँ कि मेरी समझ सही है या गलत। मैंने तय किया कि मैं अपना जीवन खेतीबाड़ी करने में, धान और सर्दियों के अनाज उगाने में बिताऊँगा। सो यही रास्ता पकड़ा।

और यह अनुभव भला क्या था जिसने मेरा जीवन बदल डाला था?

चालीस साल पहले, जब मैं पच्चीसेक साल का था, मैं योकोहामा कस्टम्स ब्यूरो के पौध निरीक्षण विभाग में काम करता था। मेरा मुख्य काम था बीमारी फैलाने वाले कीटों के लिए देश में आने व बाहर

जाने वाले पौधों की जाँच करना। सौभाग्य से मेरे पास काफी खाली वक्त होता था, जो मैं शोध प्रयोगशाला में, अपनी विशेषज्ञता – पौधों की रोग विज्ञान-संबंधी जाँच-पड़ताल में लगाता था। यह प्रयोगशाला यामाते पार्क के पास थी और वहाँ ऊपरी कगार से देखने पर नीचे योकोहामा बंदरगाह नज़र आता था। इस भवन के ठीक सामने कैथोलिक चर्च था और पूर्व को थी फैरिस कन्याशाला। यह बिल्कुल शांत स्थान था, शोध के लिए एकदम सही वातावरण।

प्रयोगशाला के रोगविज्ञानी शोधकर्ता थे ईची कुरोसावा। मैंने गीफू कृषि हाई स्कूल के शिक्षक माकोतो ओकेरा के मातहत पौध रोगों की पढ़ाई की थी और ओकायामा जिला कृषि परीक्षण केन्द्र के सुएहिको इगाता से मार्गदर्शन पाया था।

प्रोफेसर कुरोसावा का छात्र होना मेरे लिए सौभाग्य का विषय था। अकादमिक दुनिया में वे लगभग अज्ञात ही रहे, परन्तु उन्होंने ही धान में बाकानाए रोग के फफूँद का कल्चर अलग कर उसे तैयार किया था। इस फफूँद के कल्चर से जिबेरेलिन नामक हॉर्मोन को भी उन्होंने अलग किया था। अगर धान के पौधे इस हॉर्मोन की थोड़ी भी मात्रा सोख लेते हैं तो वे असामान्य रूप से लंबे हो जाते हैं। और अगर इस हॉर्मोन की मात्रा अधिक दी जाए तो उसका उलटा असर होता है, अर्थात् उनकी बढ़त ही रुक जाती है। जापान में इस खोज पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, पर विदेशों में यह सक्रिय शोध का विषय बना। कुछ ही समय बाद किसी अमरीकी ने जिबेरेलीन के उपयोग से बीजरहित अंगूर विकसित किए।

मैं कुरोसावा-सान* को अपने पिता समान मानता था। उनके मार्गदर्शन में मैंने एक डिसेक्शन-माइक्रोस्कोप (चीर-फाड़ के लिए सूक्ष्मदर्शी यंत्र) बनाया और अमरीकी व जापानी नींबू-नारंगी प्रजाति के फलों में होने वाले राल रोग पर शोध करने लगा।

माइक्रोस्कोप से झाँक मैं फफूँद के विभिन्न कल्चर देखता, मैंने कई फफूँदों का संकरण किया और नए रोग पैदा करने वाली किस्में तैयार की। मैं अपने काम से मुग्ध था पर मुझे लगातार ध्यान लगाए रखना पड़ता था। कई बार ऐसा भी हुआ कि प्रयोगशाला में काम करते-करते मैं बेहोश हो गया।

यह जवानी के उत्साह के दिन भी थे और मैं हमेशा प्रयोगशाला में बंद नहीं रहता था। यह स्थान आखिरकार योकोहामा बंदरगाह शहर भी था, मौज-मस्ती की इससे बेहतर जगह क्या हो सकती थी! इसी दौरान एक घटना घटी, जिसका मैं वर्णन करूँगा। मैं ध्यानमग्न हो, हाथ में कैमरा थामे घाट के पास से गुज़र रहा था कि मुझे एक सुन्दर स्त्री नज़र आई। यह सोच कि तस्वीर उतारने का वह बेहतरीन विषय होगी, मैंने उससे अनुरोध किया। एक विदेशी जहाज वहाँ लंगर डाले खड़ा था, मैंने उस युवती को उसके डेक पर चढ़ाया, उसे इधर-उधर देखने को कह उसकी कई तस्वीरें खींची। उसने तैयार होने पर फोटो की प्रतियाँ भेजने को कहा। जब मैंने जानना चाहा कि तस्वीरें कहाँ भेजनी होंगी, उसने कहा 'ओफूना' और बिना अपना नाम बताए चली गई।

* जापान में आदर सूचक...'सान' का इस्तेमाल स्त्री-पुरुष, दोनों के लिए किया जाता है।

फिल्म तैयार हुई, तस्वीरें बनीं, तब मैंने अपने एक दोस्त को उन्हें दिखा कर पूछा कि क्या वह उस महिला को पहचानता है। उसने साँस खींचते हुए कहा, 'यह तो मिएको ताकामिने हैं, प्रसिद्ध फिल्मी सितारा।' मैंने फौरन दस चित्रों की बड़ी प्रतियाँ बनवा आफूना शहर भेजीं। जल्दी ही मय हस्ताक्षर के वे तस्वीरें डाक से लौट आईं। पर उनमें एक कम थी। इस बारे में बाद में जब मैंने सोचा तो मुझे महसूस हुआ कि गायब तस्वीर एक क्लोज़-अप की थी, जिसमें शायद उस खूबसूरत चेहरे पर कुछ झुर्रियाँ दिखाई दे रही थीं। मैं बड़ा खुश हुआ, मुझे लगा कि मैं स्त्री-मानस की एक झलक पा सका हूँ।

अनाड़ी और अटपटा नर्तक होने के बावजूद मैं नानकिनगाई इलाके के एक नाचघर में अकसर जाया करता था। वहाँ मुझे एक बार लोकप्रिय गायिका नोरीको अवाया दिखाई दी, और मैंने उनसे साथ नाचने को कहा। मैं उस नाच के दौरान अपनी भावना को कभी भूल नहीं सकता। मैं गायिका के विशालकाय शरीर से अभिभूत था, मैं अपने हाथ से उसकी कमर को घेर तक नहीं पाया।

बहरहाल मैं एक बेहद व्यस्त और बेहद भाग्यशाली नौजवान था, जो अपने दिन माइक्रोस्कोप से नज़र आने वाली प्रकृति की दुनिया देख, उससे चकित-विस्मित हो, गुज़ारता और यह सोचा करता कि यह सूक्ष्म दुनिया अनंत ब्रह्मांड की विशाल दुनिया से कितनी मिलती-जुलती है। शाम का समय प्रेम या विरह में डूबता-उतरता, हँसता-खेलता, लुत्फ उठाने में गुज़रता। मुझे लगता है कि यही लक्ष्यहीन जीवन और कड़ी मेहनत की थकान ही आखिरकार शोध कक्ष में बेहोश होकर गिरने का कारण बनी। इसका नतीजा यह हुआ कि मुझे गंभीर निमोनिया हो गया और मुझे पुलिस अस्पताल की सबसे ऊपरी मंजिल पर स्थित एक खास वार्ड में भर्ती होना पड़ा।

सर्दियों का मौसम था और टूटी खिड़की से आती हवा से कमरे में बर्फ के भंवर भर आते। रजाई-कम्बलों से ढका मेरा शरीर तो गर्म रहता, पर चेहरा बर्फ-सा ठंडा। नर्स आकर बुखार नापती और पल-भर में गायब हो जाती।

क्योंकि वह निजी कमरा था, बिरले ही कोई अंदर झांकता। मुझे लगने लगा कि मैं हाड़ कंपाने वाली सर्दी में निपट अकेला बाहर छोड़ दिया गया हूँ और अचानक एकांत व अकेलेपन की दुनिया में धकेल दिया गया हूँ। मैंने खुद को मृत्यु के भय से रूबरू पाया। आज पलटकर उस बारे में सोचने पर लगता है कि मौत का डर बेकार का है, पर उस वक्त मैंने उसे बड़ी गंभीरता से लिया।

अंततः मुझे अस्पताल से छुट्टी मिली, पर मैं खुद को उदासी से उबार नहीं पाया। तब तक मैंने किस पर भरोसा किया था? मैं बिलकुल बेफिक्र और संतुष्ट था, पर इस इत्मीनान की प्रकृति क्या थी? मैं जीवन और मृत्यु के स्वभाव को लेकर व्याकुल और आशंकित था। मैं सो नहीं पाता था, काम में जी नहीं लगा पाता था। रात बंदरगाह के कगार पर घूमना-फिरना भी मुझे चैन नहीं देता था।

एक रात टहलता-भटकता मैं बंदरगाह के सामने की पहाड़ी पर ही थकान से ढेर हो गया, अंततः वहीं एक बड़े पेड़ से पीठ टिका मैं उनींदा हो चला। मैं भोर तक वहीं पड़ा रहा – न नींद में था, न ही पूरी तरह जागा हुआ। आज भी याद आता है कि वह 15 मई की सुबह थी। मैं स्तब्ध-सा बंदरगाह

को धीमे-धीमे उजला होता देखता रहा, सूर्योदय देख रहा था, पर मानो वह नज़र तक नहीं आ रहा था। कगार के ऊपर उठती हवा में सुबह की धुंध अचानक छंट गई। ठीक उसी पल एक रात्रि-सारस प्रकट हुआ, चीखा और दूर उड़ चला। मुझे उसके पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई दे रही थी। क्षण-भर में मेरी सभी शंकाएँ और भ्रम की उदास धुंध काफूर हो गई। मेरे जितने दृढ़ विश्वास थे, जिन पर मैं अमूमन भरोसा करता रहा था, वे मानो हवा के साथ बह गये। मुझे लगा कि केवल एक ही बात समझा हूँ। बिना विचारे ही मेरे मुंह से कुछ शब्द निकले - "इस जगत् में कुछ भी तो नहीं है...।" मुझे लगा कि मैं कुछ भी नहीं समझा हूँ।*
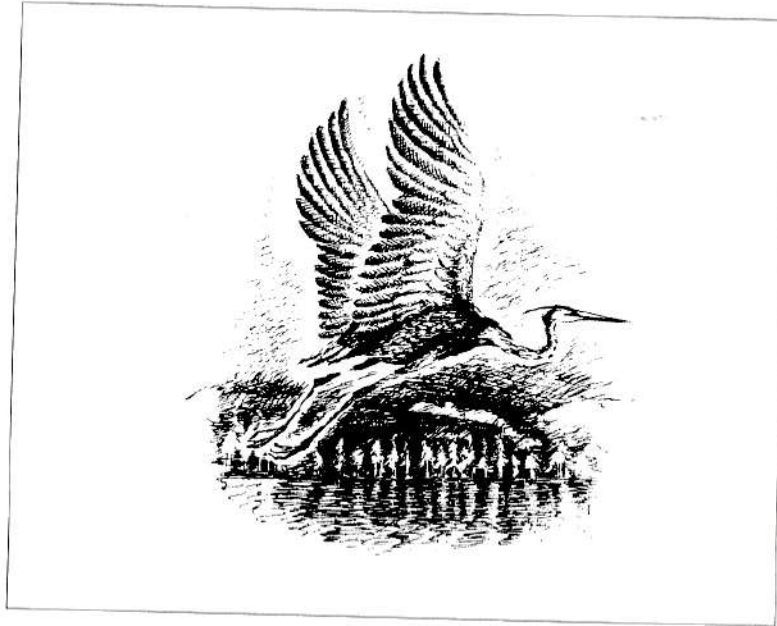
मैं देख पा रहा था कि जिन अवधारणाओं से मैं अब तक चिपका रहा था, अस्तित्व की मेरी मान्यता तक खोखली व मिथ्या रचनाएँ थीं। मेरी आत्मा पर से बोझ उठ गया। वह हलकी और साफ हो गई। मैं खुशी से पगला कर नाच उठा। मुझे पेड़ों पर बैठे नन्हें पाखियों की चहचहाट सुनाई देने लगी, उगते सूरज की रोशनी में जगमगाती दूर की लहरें दिखाई देने लगीं। हरी चमचमाती पत्तियाँ थिरक रही थीं। मुझे लगा, यही तो धरती का स्वर्ग है। अब तक मुझे जो-कुछ जकड़े था, मेरे सारे

* 'कुछ भी नहीं' का इस संदर्भ में मतलब है बौद्धिक ज्ञान की अपर्याप्तता को पहचानना।

संताप सपनों और मरीचिकाओं से अलोप हो गए और जिसे 'खालिस प्रकृति' कहा जा सकता है, वह उजागर हुई।

उस सुबह के अनुभव ने मेरे जीवन को पूरी तरह बदल डाला, यह बिना शंका कहा जा सकता है।

इस बदलाव के बावजूद मैं मूलत: एक औसत बेवकूफ पुरुष बना रहा और इसमें तब से आज तक कोई तब्दीली नहीं हुई है। बाहर से देखो तो मुझ-सा सामान्य व्यक्ति कोई न होगा, और मेरे दैनिक जीवन में कुछ भी असाधारण नहीं है। परन्तु यह भरोसा भी है कि तब से एक चीज बिलकुल नहीं बदली है। मैंने पिछले तीस-चालीस बरस यही जांचने में लगाए हैं कि कहीं मैं भूल तो नहीं समझ बैठा हूँ। परन्तु अपने विश्वास के विरुद्ध मुझे एक भी सबूत नहीं मिला है।

मुझे जो आत्मज्ञान हुआ, वह बेहद कीमती है, पर उससे मैं खुद मूल्यवान नहीं बन गया। मैं तो एक सीधा-सादा आदमी हूँ, या कहें एक बूढ़ा कौआ। सरसरी नज़र से देखने पर मैं या तो बेहद विनम्र या बड़ा घमण्डी नज़र आ सकता हूँ। मेरे फल-बागान में काम करने वाले नौजवनों को मैं बार-बार कहता हूँ कि वे मेरी नकल न करें, अगर कोई यह सुझाव नहीं मानता है तो मुझे सच में गुस्सा भी आता है। मैं कहता हूँ कि वे इसके बजाय सिर्फ प्रकृति में जीना सीखें और रोज़मर्रा के कामों में ध्यान लगाएं। सच, मुझमें कुछ भी तो खास नहीं है, पर जिस सत्य की झलक मैंने देखी, वह बेहद महत्वपूर्ण है।

गाँव को लौटना

अपने अनुभव के अगले दिन, यानी 16 मई को मैं काम पर हाज़िर हुआ और मैंने वहीं अपना इस्तीफा थमा दिया। मेरे वरिष्ठ अधिकारी और दोस्त चकित थे। उन्हें समझ ही न आया कि वे इसका क्या मतलब निकालें। उन्होंने घाट के पास के रेस्त्रां में विदाई समारोह आयोजित किया, पर उसका माहौल काफी अजीब-सा था। यह नौजवान, जो कल तक सबके साथ मिल-जुलकर रहता था, काम से खास असंतुष्ट भी न था, बल्कि इसके ठीक विपरीत शोध कार्य में पूरी निष्ठा से जुड़ा था, उसने अचानक घोषणा कर दी थी कि वह काम छोड़ रहा है। और इधर मैं खुशी से हंस रहा था।

उस समय मैंने सबको कुछ इस तरह संबोधित किया – 'इस तरफ घाट है। उस तरफ चार नंबर का पोतघाट है। अगर आप सोचते हैं कि इस पार जीवन है तो फिर उस पार मौत होगी। अगर आपको मौत के विचार से मुक्ति पानी है तो यह विचार भी त्यागना होगा कि इस पार जीवन है। जीवन और मृत्यु तो एक ही हैं।'

जब मैंने यह कहा तो लोग मेरे लिए और चिंतित हो गए। 'क्या कह रहा है यह? ज़रूर पगला गया है,' उन्होंने सोचा होगा। चिंतित चेहरों से उन्होंने मुझे विदा किया। मैं ही अकेला था जो वहाँ से चुस्ती से, जोश से भरा बाहर निकला।

कमरे में मेरे साथ रहने वाला साथी मेरे लिए बेहद चिंतित हुआ, उसने सुझाया कि मैं बोसो प्रायद्वीप जाकर कुछ समय आराम करूँ। सो मैं निकल पड़ा। उस समय मुझे कोई भी, कहीं भी जाने को कहता, मैं चला ही जाता। मैंने बस पकड़ी और मीलों तक खेतों और गाँवों को देखता रहा। एक बस स्टॉप पर मैंने एक छोटी तख्ती पढ़ी जिस पर 'यूटोपिया' लिखा हुआ था। मैं बस से उतरा और यूटोपिया को ढूँढने चल पड़ा।

आदर्श लोक

समुद्र तट पर एक छोटी सराय थी। एक चट्टान चढ़ने के बाद मुझे सच में एक अद्भुत नज़ारे वाली जगह मिली। मैं सराय में टिक गया और अपने दिन समुद्र को देखती ऊँची-ऊँची घास में ऊँघते गुज़ारता रहा। शायद कुछ दिन, एक सप्ताह या एक माह, ठीक पता नहीं, बहरहाल मैंने वहाँ कुछ समय गुज़ारा। दिन बीतने के साथ मेरा आह्लाद कमज़ोर पड़ने लगा और मैं जो-कुछ घटा था, उस पर विचार करने लगा। आप कह सकते हैं कि मैं आखिरकार अपने-आप में लौटने लगा था।

मैं तब टोक्यो गया और कुछ दिन वहाँ रहा। अपने दिन बाग में घूमते, सड़क चलते लोगों को रोक उनसे बतियाते, कभी इधर तो कभी उधर सोते गुज़ारता रहा। मेरा दोस्त मेरे बारे में चिंतित तो था ही, सो वह मेरी खैर-खबर जानने आया। 'क्या तुम एक सपने की दुनिया में, भ्रमों से भरे जगत में नहीं रह रहे?' उसने पूछा। 'नहीं', मैंने जवाब दिया, 'दरअसल तुम सपनों की दुनिया में जी रहे हो। 'हम दोनों सोचते,' मैं ही सही हूँ, पर तुम सपनों की दुनिया में जी रहे हो। जब मेरा मित्र विदा लेने आया तो मैंने कुछ ऐसा कहा – 'विदा मत लो। बिछुड़ना तो बस बिछुड़ना ही है।' लगा, मेरे दोस्त ने मुझे लेकर उम्मीद ही त्याग दी।

मैंने टोक्यो छोड़ा और कानसाई क्षेत्र* से गुजरता हुआ ठेठ दक्षिण में क्यूशू आ पहुँचा। मुझे हवा के साथ इधर-उधर भटकने में रस आ रहा था। मैंने कई लोगों के सामने अपनी यह मान्यता रखी कि सब-कुछ अर्थहीन और बेकार है और अंततः शून्य में लौटता है और उन्हें चुनौती दी।

पर, रोज़मर्रा की दुनिया के लिए यह कल्पना तक कर पाना या तो बहुत अधिक या फिर बहुत कम था। किसी प्रकार की बातचीत नहीं हो सकी। मैं सिर्फ यही सोच पाता था कि अनुपयोगिता की यह अवधारणा दुनिया के लिए बड़ी लाभदायी है, खासकर वर्तमान दुनिया के लिए, जो बेहद तेज़ी से इसके विपरीत दिशा में बढ़ रही है। मैं सच में इस मंशा से भटक-घूम रहा था कि मैं देश-भर में यह संदेश फैला सकूँगा। इसका नतीजा यह हुआ कि मैं जहाँ पहुँचता, लोग मुझे सनकी-झक्की मान मेरी उपेक्षा करते। सो, मैं गाँव में अपने पिता के खेत पर लौट आया।

मेरे पिता उस समय सन्तरे उगा रहे थे और मैं वहीं पहाड़ में एक झोंपड़ी में बस गया और सादा, आदिम जीवन जीने लगा। मैंने सोचा कि अगर मैं यहाँ नींबू प्रजाति के फल और अनाज के किसान के रूप में अपने आत्मबोध को दरअसल प्रदर्शित करूँ तो दुनिया उसकी सच्चाई को स्वीकार लेगी। इस दर्शन के सैकड़ों स्पष्टीकरण देने के बदले उसे अमल में लाना क्या सबसे अच्छा तरीका न होगा? 'कुछ न करो'** कृषि का मेरा तरीका इसी विचार के साथ शुरु हुआ था। मौजूदा सम्राट के शासनकाल का वह तेरहवाँ साल था, यानी 1938 ईस्वी।

मैं पहाड़ी पर ठीक से बस गया और सब-कुछ तब तक खूब अच्छे तरीके से चला, जब तक मेरे पिता ने मुझे बागान के बढ़िया फलदार पेड़ न सौंप दिए। उन्होंने पेड़ों को पहले ही साके के प्यालों के आकार में छाँट दिया था, ताकि फलों को इकट्ठा करना आसान हो। पर जब मैंने उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया तो उनकी शाखाएँ एक-दूसरे से उलझती गईं, कीटों ने पेड़ों पर हमला बोला और कुछ ही समय में समूचा बागान ही मुरझा गया।

मेरा विश्वास था कि फसलें अपने-आप ही उगती हैं और उन्हें उगाने की ज़रूरत ही नहीं पड़नी चाहिए। मैंने, अपनी इसी धारणा पर अमल किया था कि सब-कुछ प्रकृति की कुदरती प्रक्रिया पर छोड़ा जाना चाहिए, पर मैंने पाया कि अगर इस विचार को अचानक एकबारगी, पूरी तरह लागू कर दिया जाए तो गड़बड़ होती है। यह तो त्याग देना है, प्राकृतिक कृषि नहीं।

---

* ओसाका, कोबे, क्योटो का क्षेत्र।

** इस जुमले से श्री फुकुओका अपनी विधि की तुलनात्मक सरलता की ओर ध्यान खींचते हैं। खेती-बारी की इस विधि में भी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है, खासकर फसल काटते समय, पर दूसरे तरीकों की तुलना में यह मेहनत कम होती है।

मेरे पिता को भारी सदमा पहुँचा। उन्होंने कहा कि मुझे खुद को फिर से अनुशासित करना होगा, शायद मुझे कहीं और काम तलाशना चाहिए और जब मैं फिर से खुद को पूरी तरह सम्हाल लूँ, तब लौटना चाहिए। उस समय मेरे पिता गाँव के मुखिया थे और उनके समुदाय के शेष सदस्यों को उनके सनकी बेटे से रिश्ता बनाने में परेशानी थी, जो पहाड़ पर रहता था और ज़ाहिर है जो दुनिया से, वास्तविकता से, खुद को जोड़ नहीं पा रहा था। मुझे सेना में भर्ती होने का विचार नापसंद था और युद्ध क्रमश: दिन-ब-दिन अधिक हिंसक बनता जा रहा था। मैंने तय किया कि मैं पिता की इच्छा को विनम्रता से स्वीकारूँगा और एक अदद नौकरी करूँगा।

उस समय तकनीकी विशेषज्ञ कम हुआ करते थे। कोची जिला के परीक्षण स्टेशन ने मेरे बारे में सुना और मुझे रोग व कीट नियंत्रण के मुख्य शोधकर्ता (रिसर्चर) का पद दिया गया। मैं कोची प्रीफैक्चर की मेहरबानी पर लगभग आठ सालों तक जीता रहा। परीक्षण केन्द्र के वैज्ञानिक कृषि विभाग का मैं सुपरवाइजर बना, और युद्ध के दौरान खाद्य उत्पादन बढ़ाने के वास्ते शोध करता रहा। परन्तु, दरअसल, इन आठ वर्षों के दौरान मैंने लगातार वैज्ञानिक और कुदरती खेती के आपसी रिश्ते पर विचार किया। रासायनिक खेतीबारी को, जिसमें इंसानी चतुराई से बने उत्पादों का उपयोग होता है, इन दोनों तरीकों में बेहतर माना जाता था। अत: जो सवाल लगातार मेरे दिमाग में घूमा करता था, वह यह था कि क्या प्राकृतिक कृषि आधुनिक विज्ञान के विरुद्ध टिक भी पाएगी?

जब युद्ध समाप्त हुआ तो मुझे आज़ादी का एक ताज़ा झोंका महसूस हुआ और मैं राहत की साँस ले अपने पैतृक गाँव लौटा ताकि फिर से खेतीबारी कर सकूँ।

कुछ न करो खेती की ओर

तीस वर्ष तक मैं सिर्फ अपनी खेतीबारी में लीन जीता रहा। अपने समुदाय के बाहर किसी से मेरा संपर्क तक न था। इन वर्षों में बिलकुल नाक की सीध में 'कुछ न करो' खेती के तरीके की ओर बढ़ता रहा।

किसी विधि को विकसित करने का सामान्य तरीका है यह पूछना 'क्या यह करके देखें? या 'वह करके देखें?' ताकि एक के बाद एक, कई तकनीकें आजमाई जा सकें। यही आधुनिक कृषि है और इसका नतीजा यह होता है कि किसान अधिकाधिक व्यस्त हो जाता है।

पर मेरा तरीका उलटा था। मैं सुखद, कुदरती खेती की विधि* की ओर बढ़ना चाहता था, जिससे किसानी का काम कठिन बनने के बदले आसान बने। 'ऐसा न करें तो कैसा रहेगा?' 'वैसा न करें तो कैसा रहेगा?' यह था मेरे सोचने का तरीका। अंतत: मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि न तो जुताई करने की दरकार है, न खाद देने की, न जैविक (कम्पोस्ट) खाद बनाने की, न ही कीटनाशकों का इस्तेमाल करने की ज़रूरत है। अगर सच में पूरी गंभीरता से सोचा जाए तो कृषि संबंधी कुछ ही अभ्यास हैं, जो दरअसल ज़रूरी है।

बेहतर तकनीकें इसलिए ज़रूरी लगती है क्योंकि इन्हीं तकनीकों द्वारा प्राकृतिक संतुलन पहले से ही इस कदर गड़बड़ा दिया गया होता है कि ज़मीन उन पर निर्भर हो चुकी होती है।

यह तर्क केवल खेतीबारी ही नहीं बल्कि मानव समाज के दूसरे पक्षों पर भी लागू होता है। जब लोग अपने वातावरण को बीमार बना डालते हैं तो चिकित्सक और दवाओं की ज़रूरत पड़ती है। औपचारिक शिक्षा में कोई निहित मूल्य नहीं है, परन्तु उसकी उस वक्त खासतौर से ज़रूरत पड़ती है जब मानवता ऐसी स्थिति पैदा कर दे जिसमें गुज़र-बसर के लिए 'शिक्षित' होना आवश्यक बन जाता है।

युद्ध समाप्ति के पहले जब मैं संतरों-नारंगियों के बाग को सम्हाल रहा था तो उस सबको अमल में लाना चाहता था जिसे मैं प्राकृतिक खेतीबारी मानता था। मैंने पेड़ों की छंटाई नहीं की और बाग को अपने हाल पर छोड़ दिया। शाखाएं एक-दूसरे से उलझी, पेड़ों पर कीटों के हमले हुए, लगभग दो एकड़ पर उगे मैन्डारिन संतरों के पेड़ मुरझा कर मर गए। ठीक उसी समय से यह सवाल कि 'प्राकृतिक पैटर्न क्या

---

* यथासंभव सरलता से प्राकृतिक वातावरण के अंदर तथा उसके सहयोग से खेती करना, ताकि आधुनिक तरीके से जहाँ लगातार पेचीदा होती जाती तकनीकों को अपना कर प्रकृति को कुछ यों पुनर्निमित किया जाता है कि वह केवल इंसान के लिए फायदेमंद हो।

है?' लगातार मेरे दिमाग में रहा। उत्तर की तलाश में मैंने 400 अन्य पौधों का भी सफाया कर डाला। अंततः मुझे लगा कि अब मैं पक्के भरोसे से यह कह सकता हूँ कि 'यही प्राकृतिक पैटर्न है।'

पेड़ जिस हद तक अपने स्वाभाविक आकार से दूर कर दिए जाते हैं, उसी सीमा तक हमें उनकी छंटाई और कीड़ों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है; इंसान जिस हद तक खुद को प्रकृति से दूर करता जाता है, उसी हद तक शिक्षण की आवश्यकता बनती जाती है। प्रकृति में औपचारिक शिक्षण का कोई काम ही नहीं है।

अपने बच्चों के लालन-पालन में कई माता-पिता वही गलती करते हैं जो मैंने पहले-पहल अपने बाग में की थी। उदाहरण के लिए बच्चों को संगीत सिखाना उतना ही अनावश्यक है जितना बाग के पेड़ों की छंटाई करना। बच्चे के कान स्वयं ही संगीत पकड़ते हैं। नदी की कलकल, नदी किनारे बैठे मेढ़कों के टर्राने की आवाज़ें, जंगल में पत्तों की सरसराहट – ये सभी स्वाभाविक ध्वनियाँ संगीत ही तो हैं – असली संगीत। परन्तु जब विविध प्रकार की परेशान करने वाली आवाजें कान में घुस कर भ्रम पैदा करती हैं, तो बच्चे की विशुद्ध संगीत की समझ नष्ट होती चली जाती है। अगर उसे इसी रास्ते बढ़ने दिया जाए तो वह न तो पाखी की पुकार को, न ही हवा के गुंजन को, संगीत मान सकेगा। यही कारण है कि बाल-विकास में संगीत शिक्षण को सहायक माना जाता है।

जिस बच्चे का लालन-पालन शुद्ध व स्पष्ट सुनने के लिए किया गया हो, ज़रूरी नहीं कि वह वायलिन या पियानों पर लोकप्रिय धुनें बजा सके, पर मुझे नहीं लगता कि इसका विशुद्ध संगीत को सुन पाने, या गा पाने की क्षमता से कोई लेना-देना है। जब बालक का दिल ही गीत से ओत-प्रोत हो, तभी यह कहा जा सकता है कि उसे संगीत का वरदान मिला हुआ है।

पिछले तीस साल से मैं सिर्फ अपनी खेती से जी रहा हूँ।

लगभग सभी यही सोचते हैं कि 'प्रकृति' अच्छी है, पर कुछ ही लोग प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक में अंतर कर पाते हैं।

अगर किसी फलदार वृक्ष की एक भी नई ताजा कली कैंची से काट दी जाती है, तो उससे ऐसी गड़बड़ शुरु हो सकती है जिसे रोका या थामा न जा सके। अपने प्राकृतिक आकार में बढ़ते हुए पेड़ की शाखाएँ तने से कुछ यों उगती हैं कि हरेक पत्ती को बराबर से सूरज की रोशनी मिले। अगर यह क्रम टूटता है तो शाखाएँ एक-दूसरे से टकराव की स्थिति में आ जती हैं, एक-दूसरे से उलझती हैं, और जहाँ-जहाँ सूरज की किरणें नहीं पहुँच पातीं वहाँ की पत्तियाँ मुरझा जाती हैं। कीटों से हुआ नुकसान भी दिखाई देने लगता है। और तब अगर अगले साल टहनियों की छँटाई न की जाए, तो और अधिक शाखाएँ मुरझा जाती हैं।

इंसान अपनी छेड़छाड़ से कुछ गलत कर बैठते हैं, और उस नुकसान को सुधारते नहीं और जब तमाम दुष्प्रभाव इकट्ठे होने लगते हैं, तो उन्हें सुधारने पर पिल पड़ते हैं। और जब सुधार संबंधी काम सफल जान पड़ते हैं तो वे इसे एक बेहतरीन उपलब्धि मान बैठते हैं। लोग ऐसा बार-बार करते हैं। यह कुछ ऐसा है मानों कोई बेवकूफ अपने ही घर की छत पर उछल-कूद मचाए और छत की सारी केलू (टाइलें) तोड़ डाले। तब बरसात आने पर जब छत टपकने लगे तो वह जल्दी से उस नुकसान (खपरेल) की मरम्मत करे। और अंत में इस बात की खुशी मनाए कि उसने कैसा अद्भुत समाधान ढूँढ निकाला है।

यही वैज्ञानिकों के साथ भी होता है। कोई वैज्ञानिक दिन-रात किताबों से जूझते अपनी नज़र इतनी कमज़ोर कर ले कि वह पास की चीजें तक न देख सके, और अगर आप यह पूछें कि वह भला आदमी अब तक क्या करता रहा था, तो पता चले कि वह ऐसे चश्मे को ईजाद करने में लगा हुआ था जिससे पास की चीजें साफ दिखाई देती हों।

स्त्रोत को लौटना

अपनी हंसिया के लंबे हत्थे की टेक ले मैं फल-बागान का काम रोकता हूँ और पहाड़ों और नीचे बसे गाँव को निहारता हूँ। सोचता हूँ कि भला लोगों के दर्शन, उनके विचार, मौसम बदलने की रफ्तार से भी अधिक तेजी से क्योंकर बदल जाते हैं।

जिस राह पर मैं बढ़ता चला, कुदरती खेती की राह पर, जो ज़्यादातर लोगों को अजीब लगती है, उसे पहले-पहले विज्ञान की अंधाधुंध प्रगति और विकास के प्रति प्रतिक्रिया समझा गया। पर यहाँ ग्रामीण इलाके में खेती करते हुए मैंने तो बस इतना-भर दर्शाने की कोशिश की, कि मनुष्य दरअसल कुछ भी नहीं जानता। क्योंकि दुनिया जिस तेज़ी से उलटी दिशा में बढ़े जा रही है, यह लग सकता है कि मैं अपने समय से पिछड़ता जा रहा हूँ। पर मेरा अटूट विश्वास है कि जिस पथ पर मैं चलता रहा हूँ, वही सबसे समझदारी की राह है।

पिछले कुछ सालों में प्राकृतिक खेती में रुचि लेने वाले लोगों की संख्या काफी बढ़ी है। लगता है, हम वैज्ञानिक विकास की सीमा तक पहुँच गए हैं, अब शंकाएँ जग रही हैं और पुनर्मूल्यांकन का समय आ गया है। जिसे अब तक आदिम और पिछड़ा माना जा रहा था, उसे अब अप्रत्याशित रूप से आधुनिक विज्ञान से भी कहीं अधिक विकसित माना जाने लगा है। यह बात शुरुआत में अजीब लग सकती है, पर मैं इसे कतई विचित्र नहीं मानता।

हाल मैं मैंने इस पर क्योटो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ईनूमा से चर्चा की। हजार बरस पहले जापान में बिना जोते खेती की जाती थी और तोकूगावा युग के बाद, अर्थात् बस 300-400 वर्ष पहले ही उथली जुताई का चलन शुरु हुआ था। गहरी जुताई जापान में पश्चिमी कृषि के साथ आई। मैंने कहा कि भावी समस्याओं से निपटने के लिए अगली पीढ़ी बिना जुताई की विधि अपनाएगी।

बिना जोते खेत में फसल उगाना कई लोगों को आदिम कृषि की ओर पिछड़ने का पहला कदम लग सकता है, परन्तु देश-भर की विश्वविद्यालयी प्रयोगशालाओं और कृषि परीक्षण केन्द्रों ने कई सालों में यह दिखा दिया है कि यही तरीका सबसे सरल, प्रभावी और आधुनिक है। यद्यपि खेती का यह तरीका आधुनिक विज्ञान को खारिज करता है, फिर भी आधुनिक कृषि विकास में यह अग्रणी है।

मैंने "बिना जोते जौ/धान के क्रमवार प्रत्यक्ष बीजने की विधि" बीस साल पहले कृषि पत्रिकाओं में प्रस्तुत की थी। तब से यह विचार कई बार छपे रूप में और आम जनता के लिए रेडियो और टीवी कार्यक्रमों में प्रसारित हो चुका है। पर इस पर किसी ने खास ध्यान नहीं दिया है।

अब अचानक कहानी ही बदल चुकी है। आप कह सकते हैं कि लोगों पर प्राकृतिक खेती का नशा सवार हो गया है। पत्रकार, प्रोफेसर, तकनीकी शोधकर्ता, पहाड़ों पर बसे मेरे खेतों और झोपड़ियों को देखने आने लगे हैं।

अलग-अलग लोग इस काम को भिन्न-भिन्न नज़रिए से देखते हैं, अपना-अपना अर्थ निकालते हैं और लौट जाते हैं। कोई इसे आदिम मानता है, तो कोई पिछड़ा, तो कोई तीसरा इसे कृषि की सर्वोच्च उपलब्धि बताता है, तो चौथा इसे भविष्य की खोज घोषित कर डालता है। आमतौर पर लोगों का सरोकार इतना भर रहता है कि इस तरह की खेतीबारी को भविष्य की प्रगति कहा जाए या अतीत का पुर्नउत्थान। बिरले ही कोई यह सत्य समझ पाता है कि कुदरती खेती कृषि विकास के अटल और अपरिवर्तनशील केन्द्र से निकली है।

जिस हद तक लोग स्वयं को प्रकृति से दूर करते जाते हैं, वे इस केन्द्र से दूर-और-दूर छिटकते जाते हैं। परन्तु साथ ही अभिकेंद्रित आकर्षण का असर भी हावी होने लगता है और प्रकृति के पास लौटने की इच्छा जागती है। परन्तु अगर लोग केवल प्रतिक्रिया करने में ही उलझे रहेंगे, स्थिति के अनुसार केवल दायें या बायें हटते रहेंगे, तो नतीजा होगा – गतिविधियों का और – और बढ़ना। मूल स्रोत के उस अडिग बिन्दु पर, जो सापेक्षता के क्षेत्र से परे है, किसी का ध्यान ही नहीं जाएगा। मेरा मानना है कि अगर 'प्रकृति की ओर लौटना' तथा 'प्रदूषण विरोधी गतिविधियाँ' भी चाहे कितनी ही प्रशंसनीय क्यों न हों, मौजूदा अतिविकास की प्रतिक्रियास्वरूप की जाती हैं, तो फिर वे एक वास्तविक समाधान की ओर नहीं बढ़ रही होती।

दरअसल प्रकृति तो बदलती ही नहीं, हालाँकि उसे देखने का नज़रिया युग-दर-युग जरूर बदलता है। युग कोई-सा भी क्यों न हो, कुदरती खेती हमेशा ही कृषि के कुशलक्षेम के स्रोत के रूप में अस्तित्व में रही है।

प्राकृतिक खेती के लोकप्रिय न होने का एक कारण

पिछले बीस या तीस वर्षों में धान और सर्दियों के अनाज (जई, जौ आदि) उगाने के इस तरीके का विभिन्न जलवायु व प्राकृतिक परिस्थितियों में परीक्षण किया गया है। जापान के प्रत्येक जिले ने "बिना जोते प्रत्यक्ष बिजाई" से होने वाली फसल की मात्रा की तुलना धान उगाने के आम तरीके तथा ऊँची क्यारियों व लीक में जई और जौ की खेती करने से होने वाले उत्पादन से की है। इन जाँचों में ऐसा कोई सबूत नहीं मिला है जो इस धारणा का खण्डन करता हो कि प्राकृतिक खेती हर-कहीं की जा सकती है।

ऐसे में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर यह सच्चाई फैली क्यों नहीं है। मेरा सोचना है कि इसके तमाम अन्य कारणों में एक यह है कि दुनिया अब विशेषज्ञता की इस कदर गुलाम बन चुकी है कि लोग किसी भी चीज़ को उसकी समग्रता में समझ ही नहीं सकते। उदाहरण के लिए कोची जिला परीक्षण केन्द्र का एक विशेषज्ञ यह पूछने आया कि यद्यपि मैं कीटनाशकों का इस्तेमाल नहीं करता, फिर भी मेरे खेतों में धान के पत्तों पर होने वाले टिड्डे इतने कम क्यों हैं? उसने धान टिड्डों के आवास स्थान को जाँचा-परखा और पाया कि धान के टिड्डों और उनके स्वाभाविक शत्रुओं का संतुलन, मकड़ियों की वृद्धि की दर, आदि-इत्यादि, तथा धान के टिड्डों की कम संख्या, सब ठीक वैसे ही हैं जैसे उसके केन्द्र के खेतों में, जहाँ असंख्य बार खतरनाक कीटनाशकों का छिड़काव किया जाता है।

प्रोफेसर साहब इस बात से भी चकित थे कि हालाँकि मेरे खेतों में फसल को नुकसान पहुँचाने वाले कीटों की संख्या इतनी कम थी, फिर भी कीटनाशक छिड़काव वाले खेतों की तुलना में स्वाभाविक परभक्षी बहुतायत में थे। तब उन्हें सूझा कि मेरे खेतों में विभिन्न कीट समुदायों के बीच एक प्राकृतिक संतुलन बन रहा था। उन्होंने स्वीकारा कि अगर मेरी विधि का व्यापक उपयोग हो तो पत्तों के टिड्डों द्वारा फसलों के नष्ट होने की समस्या का समाधान किया जा सकता है। तब वह अपनी गाड़ी में बैठे और कोची लौट गए।

परन्तु अगर आप यह जानना चाहें कि परीक्षण केन्द्र के भू-उर्वरकता विशेषज्ञ या फसल विशेषज्ञ भी मेरे खेतों को देखने आए हैं तो जवाब ना है, वे नहीं आए हैं। और अगर आप किसी सम्मेलन या गोष्ठी में यह सुझाएं कि यह तरीका, या कहें, 'कुछ नहीं करने का तरीका', व्यापक स्तर पर अपनाया

जाए, तो मेरा कयास है कि वह जिला या शोध केन्द्र उत्तर देगा, 'माफ करें, इसका समय नहीं आया है। हमें पहले हर पक्ष और कोण से शोध करनी होगी, तभी जाकर हम यह स्वीकृति दे पाएगें।' उनके निष्कर्ष हम तक पहुँचे, इसमें सालों गुज़र चुके होंगे।

ऐसा हमेशा होता ही रहता है। इस फार्म पर जापान-भर के ढेरों विशेषज्ञ और तकनीकविद् आ चुके हैं। अपनी-अपनी विशेषज्ञता के दृष्टिकोण से हरेक शोधकर्ता ने इन खेतों को देखा है और उन्हें अद्‌भुत नहीं, तो कम से कम संतोषजनक पाया है। परन्तु कोची ज़िला के प्रोफेसर साहब के दौरे के पाँच या छह साल गुज़र जाने के बावजूद वहाँ खास बदलाव नहीं आया है।

इस वर्ष किन्की विश्वविद्यालय के कृषि विभाग ने प्राकृतिक कृषि परियोजना के लिए एक टीम का गठन किया है, जिसमें विभिन्न विभागों के छात्र यहाँ आकर जाँच-पड़ताल करेंगे। यह तरीका शायद पहले से एक कदम आगे है, पर लगता मुझे यह है कि उनका अगला काम इसके ठीक उलटी दिशा में दो कदम बढ़ेगा।

स्वघोषित विशेषज्ञ अकसर टिप्पणी करते हैं, 'इस विधि का मूल विचार तो ठीक है, पर मशीनों से फसल काटना क्या ज्यादा आसान न होगा?' या 'कुछ मामलों में या किसी खास समय खाद या कीटनाशक का छिड़काव करने पर क्या ज्यादा फसल नहीं उगाई जा सकेगी?' कुछ लोग हमेशा ऐसे भी होंगे जो कुदरती खेती और वैज्ञानिक कृषि को साथ मिलाना चाहेंगे। इस तरह की सोच दरअसल सार को पकड़ नहीं पाती। जो किसान इस तरह समझौता करने की दिशा में बढ़ता है वह एक मूलभूत स्तर पर विज्ञान की आलोचना कर ही नहीं सकता।

कुदरती खेती नितांत कोमल और सरल है और खेतीबारी के मूल स्रोत की ओर संकेत करती है। उस स्रोत से डिगने वाला एक भी कदम सिर्फ भटकाव की ओर ही ले जा सकता है।

मानवता प्रकृति को जानती ही नहीं

हाल में, मैं सोचने लगा हूँ कि उस बिन्दु पर पहुँच ही जाना चाहिए जहाँ वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, कलाकार, दार्शनिक, धर्मगुरू और वे सभी, जो खेतों में काम करते हैं, यहाँ इकट्ठा हों, इन खेतों को निहारें, देखें और आपस में बातचीत करें। मुझे लगता है कि अगर लोगों को अपनी-अपनी विशेषज्ञता के परे देखना है तो ऐसा ही कुछ करना होगा।

वैज्ञानिक सोचते हैं कि वे प्रकृति को समझते हैं। कम से कम वे यह दावा तो करते ही हैं। क्योंकि उनका पक्का विश्वास है कि वे प्रकृति को समझते हैं, वे प्रकृति की जाँच-पड़ताल करने और उसका उपयोग करने के प्रति संकल्पित हैं। पर मेरा मानना है कि प्रकृति की समझ मानवीय बुद्धि की पहुँच के परे है।

मैं अकसर उन नौजवानों को, जो पहाड़ों पर बनी कुटियों में रहते हैं और यहाँ मदद करने और प्राकृतिक खेतीबारी के बारे में सीखने आए हैं, कहता हूँ कि पहाड़ों पर उगे पेड़ों को कोई भी देख सकता है। वे पत्तियों की हरियाली को देख सकते हैं, धान के पौधों को देख सकते हैं। वे सोचते हैं कि वे जानते हैं कि हरा क्या है। सुबह-शाम प्रकृति के सम्पर्क में रह, वे सोचने लगते हैं कि वे प्रकृति को जानते हैं। पर जैसे ही वे यह मानने लगते हैं कि वे प्रकृति को समझने लगे हैं, उन्हें मान लेना चाहिए कि वे गलत राह पर चल रहे हैं।

प्रकृति को जानना असंभव क्यों है? जिसे प्रकृति के रूप में देखा-समझा जा रहा है वह दरअसल हरेक व्यक्ति के मस्तिष्क में उपजा प्रकृति का विचार मात्र है। जो सच में प्रकृति को देखते हैं वे हैं शिशु। वे बिना सोचे, सीधे और स्पष्ट देखते हैं। अगर हमें पेड़-पौधों के नाम पता भी हों, नींबू प्रजाति का मैन्डारिन संतरे का पेड़ या चीड़ परिवार का देवदारू वृक्ष, फिर भी प्रकृति अपने सच्चे रूप में नहीं देखी जाती है।

समग्रता से काटकर किसी भी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में देखा नहीं जा सकता।

जब विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ एकत्र हो धान की एक बाली को देखते हैं तो कीट रोग विशेषज्ञ को तब केवल कीटों से हुआ नुकसान दिखाई पड़ता है, पौध-पोषण विशेषज्ञ केवल बाली के स्वास्थ्य पर विचार करता है। आज की स्थिति में ऐसा होने से बचा नहीं जा सकता।

उदाहरण के लिए मैंने कृषि अनुसंधान केन्द्र से आए सज्जन से उस वक्त, जब वे मेरे खेतों में धान के पत्तों के टिड्डों और मकड़ियों के बीच संबंध को जाँच-परख रहे थे, कहा कि 'प्रोफेसर साहब, क्योंकि आप केवल मकड़ियों पर ही शोध कर रहे हैं, मैं बता दूँ कि मकड़ियाँ पत्तों के टिड्डों के अनेक प्राकृतिक शत्रुओं में केवल एक हैं। इस साल मकड़ियाँ भारी संख्या में नज़र आई हैं, पर पिछले साल भेक (मेंढ़क जैसा जीव) थे। उसके पिछले साल मेंढ़क ज्यादा थे। यह विविधता अनगिनत है।'

किसी विशेषज्ञता आधारित शोध में इस तथ्य को पूरी तरह पकड़ना ही असंभव है कि कीटों के पारस्परिक सह-संबंधों की जटिलता में किसी एक परभक्षी की किसी एक समय में क्या भूमिका है। किसी मौसम में पत्तों के टिड्डों की जनसंख्या इस कारण कम होती है क्योंकि मकड़ियाँ बहुत अधिक हैं। पर कभी ऐसा भी होता है कि बरसात अधिक होने के कारण मेंढ़क ज्यादा हो जाते हैं और उनके कारण मकड़ियाँ गायब हो जाती हैं, या कभी कम बरसात के चलते न तो पात-टिड्डे होते हैं न मेंढ़क ही नज़र आते हैं।

कीट नियंत्रण के जो तरीके कीटों के आपसी संबंधों की उपेक्षा करते हैं वे सच में बिल्कुल निरर्थक होते हैं। मकड़ियों और पात-टिड्डों पर की जाने वाली शोध को मेंढ़कों और मकड़ियों के रिश्ते पर भी सोच-विचार करना चाहिए। अगर बात यहाँ तक पहुँचे तो हमें मेंढ़कों के एक प्रोफेसर की भी दरकार होगी। मकड़ियों और पात-टिड्डों के विशेषज्ञ, साथ में धान का विशेषज्ञ, एक जल प्रबंधन विशेषज्ञ को भी इस जमावड़े में जुड़ना होगा।

और फिर इन खेतों में चार-पाँच अलग-अलग किस्मों की मकड़ियाँ हैं। याद आता है कि कुछ बरस पहले अल-सुबह कोई मेरे पास यह पूछने भागा चला आया था कि क्या मैंने अपने खेतों पर

रेशम का बारीक जाल-सा कुछ बिछा दिया है? मैं कल्पना तक नहीं कर सका कि वह किस चीज़ की बात कर रहा है, सो मैं उसके साथ सीधे खेतों की ओर वह नज़ारा देखने गया।

धान की फसल काटना हम खत्म कर चुके थे और बस, एक रात-भर में धान के ठूँठ और नीचे बिछी घास पूरी तरह मकड़ियों के जालों से ढंग चुकी थी, मानों रेशम का बारीक जाल बिछा दिया गया हो। सुबह की ओस से हिलता-झिलमिलाता यह जाल विलक्षण लग रहा था।

आश्चर्यजनक बात यह है कि जब भी ऐसा होता है, और ऐसा काफी समय बाद ही कभी होता है, यह सिर्फ एक-दो दिन ही रहता है। अगर आप करीब से देखें तो आपको हर वर्ग इंच में कई-कई मकड़ियाँ नज़र आएंगी। वे खेत में इतने पास-पास, गझिन होती हैं कि उनके बीच बिल्कुल जगह नहीं बचती है। चौथाई एकड़ में न जाने कितनी हजार, न जाने कितनी लाख मकड़ियाँ होती होंगी। और तब, बस दो या तीन दिन बाद जाकर देखें तो आप को टूटे जालों के टुकड़े हवा में लहराते मिलेंगे जिन पर पाँच-छह मकड़ियाँ एक-दूसरे से चिपटी हों। यह ठीक वैसा लगता है जैसा ककरौंधा के फाहों या चीड़ के शंकु के बीज हवा उड़ा ले जाती है जैसे जाल के रेशों से चिपटी मकड़ियाँ आसमान की ओर ऊपर उड़ी चली जाती है।

यह दृश्य प्रकृति का एक विस्मयकारी खेल है। इसे देखते ही आप समझ जाते हैं कि विशेषज्ञों की मण्डली में कवियों व कलाकारों को भी जुड़ना होगा।

पर, जब खेतों में रसायन डाले जाते हैं तो यह सब छिन-भर में नष्ट हो जाता है। एक समय मैंने सोचा था कि अलाव की राख को खेतों में डालना अनुचित* न होगा। इसका नतीजा चौंकाने वाला रहा। दो या तीन दिन में खेत पूरी तरह मकड़ियों से रीता हो गया। राख से उनके जालों के तन्तु बिखर गए। न जाने कितनी हजार मकड़ियाँ इस निरीह मानी जाने वाली मुट्ठी भर राख का शिकार बनी होंगी? कीटनाशक का छिड़काव केवल पात टिड्डों या उनके साथ उनके प्राकृतिक शिकारियों को नष्ट करने भर का मामला नहीं है। इससे प्रकृति के कई अन्य आवश्यक खेल भी प्रभावित होते हैं।

पतझड़ के मौसम में मकड़ियों के इन विशाल झुण्डों का धान के खेतों में अचानक आगमन और तब छू-मंतर हो जाने वाले कलाकारों की तरह रातोंरात गायब हो जाने की घटना, अब तक भी समझी नहीं जा सकी है। यह कोई नहीं जानता कि वे कहाँ से आती हैं, जाड़े में अपने-आप को कैसे बचाए रखती हैं, और जब वे अलोप होती हैं तो आखिर जाती कहाँ हैं?

अत: रसायनों का उपयोग एक ऐसी समस्या है जिसका सरोकार केवल कीट-वैज्ञानिक से नहीं है। दार्शनिक, धर्म से जुड़े लोग, कलाकार और कवियों को भी यह तय करने में मदद करनी होगी कि खेती में रसायनों के उपयोग की अनुमति दी जाए या नहीं, और जैविक उर्वरकों तक के उपयोग के नतीजे क्या हो सकते हैं।

इस भूमि के हर चौथाई एकड़ से हम 1,300 पाउण्ड धान और 1,300 पाउण्ड जई और ज्वार के सर्दियों के अनाज पाएंगे। और अगर उपज 1700 पाउण्ड हो जाए, जैसा कभी-कभार होता है, तो

* श्री फुकुओका लकड़ी की राख और घर के दूसरे जैविक कचरे से कम्पोस्ट (कूड़े-कचरे की खाद) बनाते हैं। वे अपने छोटे रसोई-बागान में इस कम्पोस्ट का इस्तेमाल करते हैं।

आपको देश-भर में खोज कर भी इससे बेहतर फसल नहीं मिलेगी। इस फसल को उगाने में क्योंकि उन्नत तकनीक का कोई हाथ नहीं है, यह आधुनिक विज्ञान की तमाम मान्यताओं के विरुद्ध है। कोई भी इंसान, जो आकर इन खेतों को देखता है और उनके द्वारा दी जा रही गवाही को स्वीकारता है, उसके मन में इस बात पर शंका अवश्य जगेगी कि इंसान प्रकृति को दरअसल समझता है अथवा नहीं, और यह भी कि मानवीय समझ की सीमाओं के दायरे में प्रकृति जानी-समझी जा भी सकती है या नहीं?

विडंबना यह है कि विज्ञान ने केवल इतना ही दर्शाया है कि इंसानी ज्ञान कितना सीमित है, कितना कम है।

II

प्राकृतिक खेती के चार सिद्धान्त

इन खेतों में खूब सावधानी से चलिएगा। यहाँ पतंगे और शलभ फड़फड़ा कर ऊपर उड़ते हैं। मधुमक्खियाँ भिनभिन की गुँजार के साथ एक से दूसरे फूल की ओर डोलती हैं। पत्तियाँ हटाते ही आपको कीट-पतंगे, मकड़ियाँ, मेंढ़क, गिरगिट और तमाम दूसरे छोटे जानवर ठंडी छाँव में व्यस्तता से आते-जाते नज़र आएंगे। माटी की सतह के नीचे छछूंदर और केंचुए बिलबिलाते मिलेंगे।

यह धान के खेत की संतुलित पारिस्थितिकीय व्यवस्था है। कीट व वनस्पति समुदाय यहाँ एक टिकाऊ संबंध बनाए रखते हैं। यहाँ यह असामान्य नहीं कि कोई पौध-रोग इस पूरे क्षेत्र से गुज़र जाए, पर ये खेत उससे अछूते रहें।

अब एक पल पड़ोसी के खेत पर भी नज़र डालें। सारी की सारी खरपतवार पौधनाशक और जुताई से साफ कर दी गई है। माटी के जीव-जन्तु, कीट आदि ज़हर से मार डाले गए हैं। रासायनिक उर्वरकों ने मिट्टी से हर तरह के जैविक पदार्थ और सूक्ष्म जीवाणुओं को भस्म कर दिया है। गर्मियों में आपको किसान गैस के मुखौटे लगाए, लंबे रबर के दस्ताने पहने नज़र आएंगे। ये धान के खेत, जो पिछले 1,500 वर्षों से लगातार काम में लिए जाते रहे हैं, अब दोहन करने वाले खेती के तरीकों से एक ही पीढ़ी में बरबाद कर दिए गए हैं।

कुदरती खेती के चार सिद्धान्त

पहला सिद्धान्त है, "कोई जुताई नहीं", यानी किसी भी तरह से मिट्टी को उलटना-पलटना नहीं है। कई सदियों से किसानों की मान्यता रही है कि फसल उगाने के लिए हल चलाना ज़रूरी है। परन्तु कुदरती खेती का मूल सिद्धान्त यह है कि जुताई नहीं की जाएगी। धरती अपनी जुताई खुद करती है, स्वाभाविक तरीके से, पौधों की जड़ों, सूक्ष्म जीवाणुओं, छोटे जन्तुओं व केंचुओं की गतिविधियों द्वारा।

दूसरा सिद्धान्त है, "कोई रासायनिक खाद या तैयार जैविक खाद नहीं।"* लोग प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करते हैं, और तब चाहे जितनी कोशिश करें, उस छेड़छाड़ से हुए घाव कभी नहीं भरते। लापरवाही से किए गए खेती संबंधी कार्यों से मिट्टी के अत्यावश्यक पोषक तत्व बह जाते हैं, नतीजतन धरती साल-दर-साल नष्ट होती जाती है। अगर उसे स्वयं पर छोड़ दिया जाए तो मिट्टी

---

* खाद के नाम पर श्री फुकुओका फलीदार सफेद तिपतिया उगाते हैं और अनाज निकालने के बाद बची हुई पुआल खेतों पर बिछाते हैं, साथ में थोड़ी-सी मुर्गियों की खाद डलते हैं।

अपने उपजाऊपन को स्वाभाविक रूप से, पौधों व पशु-जीवन के नियमित चक्र के फलस्वरूप, बनाए रखती है।

तीसरा सिद्धान्त है, "गुड़ाई या पौधनाशकों के छिड़काव की मदद से किसी भी तरह खरपतवार को नहीं हटाना।" मिट्टी की उर्वरकता को बनाने और जैविक समुदाय को संतुलित रखने में खरपतवार की अपनी भूमिका है। मूल सिद्धान्त यह है कि खरपतवार नियंत्रित की जानी चाहिए पर उसका उन्मूलन नहीं होना चाहिए। पुआल की ढकावन (स्ट्रॉ मल्च), फसल के साथ बोई गई सफेद तिपतिया की चादर, और कुछ समय के लिए खेतों में पानी भरने से मेरे खेतों में खरपतवार को असरकारक तरीके से नियंत्रित कर लिया जाता है।

अंतिम सिद्धान्त है, "रसायनों पर किसी तरह की निर्भरता नहीं।"* जब से जुताई व खाद डालने जैसे अप्राकृतिक कार्य शुरु हुए हैं, तब से पौधे कमज़ोर हो गए हैं और खेतीबारी में रोगों व कीड़ों के असंतुलन की समस्या ने विशाल रूप धर लिया है। प्रकृति से छेड़छाड़ न की जाए तो वह पूर्णत: संतुलित रहती है। नुकसानदेह कीट और पौधों की बीमारियाँ हमेशा से मौजूद रहती हैं, पर वे कभी उस प्रकार या उस हद तक नहीं बढ़ते कि उनपर ज़हरीले रसायनों का इस्तेमाल करना पड़े। रोगों और कीटों को नियंत्रित रखने का सूझबूझ भरा तरीका यही है कि तंदुरुस्त फसलों को स्वस्थ वातावरण में उगाया जाए।

जुताई

जब जुताई की जाती है तो कुदरती वातावरण इस कदर बदल जाता है कि उसे पहचाना ही न जा सके। ऐसे कृत्यों के नतीजे किसानों की अनगिनत पीढ़ियों के लिए दु:स्वप्नों के कारण रहे हैं। उदाहरण के बतौर जब कोई इलाका हल से जोता जाता है तो कई बार मजबूत किस्म के खरपतवार, जैसे कांस, घास और जंगली बूटियाँ अन्य वनस्पतियों पर हावी हो जाती हैं। और जब वे अपनी जड़ें जमा लेती हैं तो किसान को उनकी गुड़ाई करने का असम्भव काम हर साल करना पड़ता है। और अकसर वह ज़मीन ही त्यागनी पड़ती है।

ऐसी समस्याओं से निपटने का समझदारी भरा एक ही उपाय है। वह यह कि हम अप्राकृतिक अभ्यासों को ही बंद कर दें जिनके चलते यह स्थिति पैदा हुई हो। यह ज़िम्मेदारी भी किसान की ही बनती है कि वह उस नुकसान को सुधारे जो उसने किया है। खेतों की जुताई बंद करनी चाहिए। अगर हम मानव-निर्मित रसायनों व मशीनों के उपयोग से विनाशकारी युद्ध लड़ने के बदले पुआल बिछाने और तिपतिया बोने जैसे कोमल तरीके अपना लेते हैं तो पर्यावरण अपने प्राकृतिक संतुलन की ओर लौट आएगा और परेशान करने वाली खरपतवार को नियंत्रित किया जा सकेगा।

* 'श्री फुकुओका अपने सारे अनाज बिना किसी रसायन के उगाते हैं। कुछ बागानी फलदार पौधों पर वे मशीनी तेल का यदा-कदा उपयोग करते हैं ताकि कीटों के शल्क नियंत्रित किए जा सकें। वे किसी भी प्रकार के स्थाई या सभी पर असर करने वाले ज़हर का उपयोग नहीं करते, न कोई कीटनाशक 'कार्यक्रम' चलाते हैं।
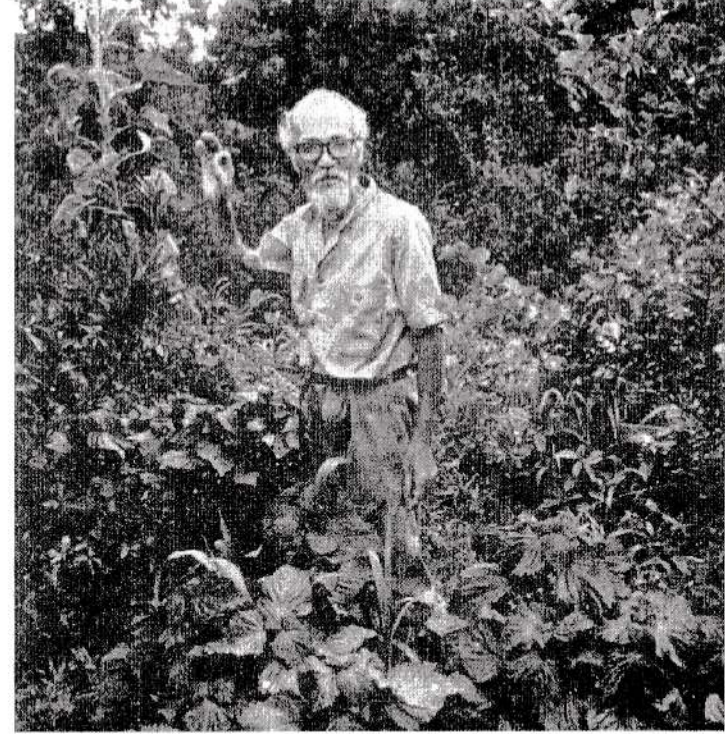
उर्वरक (खाद)

लोग यह जानते हैं कि भू-उर्वरकता विशेषज्ञों से बातचीत के दौरान मैं उनसे पूछता हूँ 'अगर किसी खेत को अपने हाल पर छोड़ दिया जाए तो मिट्टी का उपजाऊपन बढ़ेगा या फिर खत्म होता जाएगा?' अमूमन वे कुछ देर रुक कर ऐसा कुछ कहते हैं, 'ज़रा सोच लूँ...उर्वरकता कम होगी। नहीं, उस स्थिति में शायद नहीं अगर यह याद रखा जाए कि उसी खेत में एक लंबे अरसे से धान की खेती बिना खाद डाले की जाती रही हो और उपज प्रति चौथाई एकड़ करीब 525 पाउण्ड मिलती हो। वहाँ धरती न तो ज्यादा उपजाऊ बनेगी, न ही उसकी उर्वरकता में कमी आएगी।'

ये विशेषज्ञ एक जोते जाने वाले और पानी से भरे खेत की बात कर रहे हैं। पर, अगर प्रकृति को उसके हाल पर छोड़ा जाए तो उसका उपजाऊपन बढ़ता है। पेड़-पौधों और जानवरों के जैविक अवशेष

इकट्ठा होते जाते हैं और तरह-तरह के बैक्टीरिया और फफूँद उन्हें सतह पर ही सड़ा-गला देते हैं। बरसाती पानी की हलचल इन पोषक तत्वों को मिट्टी की गहराई में ले जाती है, जहाँ वे, सूक्ष्म जीवाणुओं, केंचुओं और दूसरे छोटे जानवरों का भोजन बनते हैं। पेड़-पौधों की जड़ें मिट्टी की निचली सतह से इन पोषक तत्वों को सोख कर फिर सतह पर ले आती हैं।

अगर आपको धरती की प्राकृतिक उर्वरकता का अंदाज़ लगाना हो तो पहाड़ के पास उगे जंगल में किसी दिन घूमने जाइए और उन विशालकाय वृक्षों को देखिए जो बिना किसी खाद, बिना गुड़ाई-जुताई के उगते हैं। प्रकृति की उर्वरकता वैसे भी कल्पनातीत है।

प्राकृतिक जंगलों को काट डालिए, और कुछ पीढ़ियों तक जापानी लाल चीड़ या देवदार के पेड़ उगाइए और तब यही मिट्टी बेजान हो जाएगी और खराब मिट्टी का कटाव (भू-क्षरण) होने लगेगा। इसके विपरीत किसी सूखे बंजर पहाड़ को लें, जहाँ खराब लाल चिकनी मिट्टी हो, और उसमें चीड़ या देवदार बोइए, साथ ही मिट्टी को ढकने के लिए तिपतिया या लूसन (अल्फाआल्फा) घास लगाइए। जैसे-जैसे हरी खाद* मिट्टी को समृद्ध और मुलायम बनाने लगेंगी, पेड़ों के नीचे खरपतवार और झाड़ियाँ उगने लगेंगी, पुर्नजीवन का एक समृद्ध चक्र शुरु हो चलेगा। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ दस साल से भी कम अवधि में धरती की ऊपरी चार इंच मोटी सतह समृद्ध हो गई हो।

कृषि फसलों के लिए भी तैयार खाद का प्रयोग बंद किया जा सकता है। अधिकाँश समय हरी खाद की स्थाई परत और फसल निकालने के बाद बची-खुची पुआल व भूसे को उसी जगह फिर से डाल देना ही काफी होगा। पहले पुआल को सड़ाने के लिए मैं खेतों में बतखों को छोड़ देता था। अगर उन्हें चूजों के रूप में उस समय इसका अभ्यस्त बना दिया जाए, जब धान के पौधे बिल्कुल नन्हे-नन्हे हों, तो वे भी धान के साथ-साथ बड़े होते जाएंगे। चौथाई एकड़ के खेत के लिए दस बतखें ही पर्याप्त खाद उपलब्ध करवा देंगी, साथ ही इससे खरपतवार को भी नियंत्रित रखा जा सकेगा।

मैंने ऐसा कई सालों तक किया जब तक राजमार्ग न बन गया जिसके कारण बतखों के लिए सड़क पार कर खेतों तक जाना और वापस अपने दड़बे में लौटना असम्भव न हो गया। अब मैं पुआल को सड़ाने के लिए थोड़ा-सा मुर्गियों का खाद डालता हूँ। दूसरे इलाकों में बतखों या चरने वाले छोटे जानवरों का उपयोग अब भी एक व्यावहारिक सम्भावना है।

जरूरत से ज़्यादा खाद समस्याएं पैदा कर सकती है। एक साल धान के पौधों को रोपने के बाद मैंने सवा एकड़ खेत साल-भर के लिए किराए पर लिया जिसमें धान के पौधे ताज़ा-ताज़ा रोपे गए थे। मैंने उन खेतों में भरा सारा पानी बहा दिया और बिना रासायनिक खाद डाले केवल थोड़ी-सी मुर्गी की खाद डाली। चार खेतों में धान की पौध सामान्य रूप से बढ़ती रही, पर पाँचवें खेत में मेरी हर चंद कोशिश के बावजूद पौधे बेहद घने-घने उगे और उन पर पौधों को झुलसाने वाले रोग (ब्लास्ट डिज़ीज) का हमला हुआ। जब मैंने खेत मालिक से पूछताछ की तो उसने बताया कि सर्दियों-भर वह उसी खेत में मुर्गियों के दड़बे साफ कर उनकी पूरी बींट वहीं पटकता रहा था।

---

* मिट्टी पर छा जाने वाली फसलें, जैसे तिपतिया, वेच (छीमीदार पौधा) और अल्फाआल्फा घास मिट्टी को अनुकूलित करती हैं और उसे पोषण देती हैं?

पुआल, हरी खाद और थोड़ी-सी मुर्गियों की खाद से आपको बिना जैविक खाद (कम्पोस्ट) या व्यापारिक खाद डाले ही अच्छी फसल मिल सकती है। पिछले कई दशकों से मैं बैठे-बैठे प्रकृति के खेती करने और उर्वरकता बढ़ाने के तरीकों को देखता रहा हूँ। और यों देखते रहने के दौरान ही मैंने धरती के कुदरती उपजाऊपन की भेंट के रूप में सब्ज़ियों, संतरों, धान और सर्दियों के अनाज की उम्दा फसल पाई है।

खरपतवार से निपटना

खरपतवार से निपटते समय कुछ मुख्य बिन्दु ध्यान में रखने चाहिए।

जैसे ही जुताई बंद की जाती है, खरपतवार की संख्या स्वतः ही कम हो जाती है। साथ ही उस खेत में उगने वाली खरपतवार की किस्में भी बदल जाती हैं।

अगर अगली फसल में बीजों की बुवाई उस वक्त की जाती है जब पिछली फसल खेत में खड़ी पक रही हो, तो वे बीज खरपतवार उगने से पहले ही अंकुरित होने लगेंगे। सर्दियों की खरपतवार धान की कटाई व उसमें से चावल अलग कर लेने के बाद ही अंकुरित होती है, तब तक सर्दियों के अनाज के पौधे कुछ बढ़ चुके होते हैं। गर्मियों की खरपतवार जौ और जई की कटाई के बाद फूटती है, इस समय तक धान के पौधे मजबूत हो चुकते हैं। बिजाई का समय अगर ऐसे रखा जाए कि दो फसलों के बीच कोई अन्तराल न हो, अनाज के पौधे खरपतवार की तुलना में अधिक मजबूत हो जाते हैं।

फसल काटने के तुरन्त बाद समूचा खेत पुआल से ढक दिया जाता है। इससे खरपतवारों का फूटना रुक जाता है। अनाज के साथ बोई गई सफेद तिपतिया भी ज़मीन को ढकती है और खरपतवार को नियंत्रित करने में मददगार होती है।

आमतौर पर खरपतवार से निपटने के लिए खेत की जुताई का तरीका अपनाया जाता है। पर, जुताई से मिट्टी में गहरे दबे बीज, जो शायद वैसे कभी न अंकुरित होते, छेड़ दिए जाते हैं और उन्हें फूटने का मौका मिल जाता है। इन स्थितियों में जल्दी अंकुरित होने तथा जल्दी बढ़ने वाली किस्मों को फायदा मिलता है। अतः आप यह भी कह सकते हैं कि जो किसान खरपतवार को काबू करने के लिए खेत की मिट्टी को जोतते हैं, वे शब्दशः अपने दुर्भाग्य के बीज भी बोते होते हैं।

''कीट'' नियंत्रण

मेरे ख्याल से अब भी कई ऐसे लोग हैं जो यह सोचते हैं कि अगर उन्होंने रसायनों का उपयोग नहीं किया तो उनके फलदार पेड़ और फसलें देखते-देखते मुरझा जाएगी। पर, वास्तविकता यह है कि इन रसायनों के उपयोग से लोगों ने अनजाने ही ऐसी परिस्थितियाँ बना ली हैं जिनमें उनका यह निराधार भय सच्चाई का रूप धर सकता है।

हाल में जापानी लाल चीड़ को छाल की घुन के प्रकोप से भारी नुकसान हो रहा है। वन अधिकारी इस प्रकोप को रोकने के लिए हेलिकॉप्टरों से हवाई से छिड़काव कर रहे हैं। मैं यह नहीं नकारता कि निकटगामी दृष्टि से यह तरीका प्रभावी है, पर मैं यह भी जानता हूँ कि कोई दूसरा तरीका भी ज़रूर होगा।

ताज़ा शोध के अनुसार घुन का प्रकोप प्रत्यक्ष रोग नहीं है, बल्कि मध्यस्थता करने वाली कृमि के बाद होता है। यह गोल कृमि तने में बढ़ती है और पानी व पोषक तत्वों का रास्ता रोक देती है। आखिरकार चीड़ का पेड़ मुरझा कर मर जाता है। ऐसा क्यों होता है, यह अब तक स्पष्ट नहीं समझा जा सका है।

गोल कृमि पेड़ के तने के अंदर की फफूँद से पोषण पाती है। यह फफूँद पेड़ में अंदर इतनी अधिक कैसे पनपती है? क्या फफूँद कृमि के प्रकट होने के बाद लगती-फैलती है? या कृमि इसलिए प्रकट होती है क्योंकि वहाँ फफूँद पहले से मौजूद है? अंततः प्रश्न यह बन जाता है कि पहले कौन आता है, कृमि या फफूँद?

इसके अलावा एक और जीवाणु है जिसके बारे में खास जानकारी नहीं है, जो हमेशा ही उक्त फफूँद के साथ होता है और उसके लिए ज़हरीला होता है। हर कोण से प्रभावों और प्रति प्रभावों का अध्ययन करने के बाद निश्चय पूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि चीड़ के वृक्ष असामान्य संख्या में मर रहे हैं।

चीड़ के इस रोग का वास्तविक कारण लोग नहीं जानते, न ही उन्हें अपने द्वारा किए गए 'उपचार' के नतीजों की जानकारी ही है। अज्ञान की इस स्थिति में जो भी हस्तक्षेप किया जाएगा, उसी से भावी विनाश के बीज भी बोए जाएंगे। ना, मैं इस बात की खुशी मना ही नहीं सकता कि घुन लगने के तात्कालिक नुकसान को रसायनों के छिड़काव से फिलहाल नियंत्रित कर लिया गया। इस प्रकार की समस्याओं से निपटने का सबसे अकुशल तरीका है, कृषि रसायनों का उपयोग, जिससे भविष्य में और भीषण समस्याएं पैदा होंगी।

कुदरती खेती के चार सिद्धांत (जुताई न करना, रासायनिक खाद या तैयार जैविक खाद का उपयोग न करना, गुड़ाई या पौधनाशक छिड़काव से खरपतवार न हटाना और रसायनों पर निर्भर न बनना) प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप हैं और प्रकृति की सम्पन्नता की फिर से, स्वाभाविक रूप से, पूर्ति करते हैं। मेरे सारे अनगढ़-से प्रयास इसी विचार का अनुसरण करते हैं। मैं जिस विधि से साग-सब्जियाँ, अनाज और नीबू-नारंगी उगाता हूँ, उसका मर्म यही है।

खरपतवार के बीच खेतीबारी

इन खेतों में अनाज और तिपतिया के साथ विविध किस्म के खरपतवार भी उगते हैं। पिछले पतझड़ के मौसम में धान का जो पुआल बिछाया गया था वह अब तक सड़-गल कर समृद्ध जैविक खाद-मिट्टी (ह्यूमस) में बदल चुका है। यह फसल प्रति चौथाई एकड़ में लगभग 1300 पाउण्ड* होगी।

कल जब प्रोफेसर कावासे, जो चराई की घासों के जाने-माने विद्वान हैं, तथा प्रोफेसर हिरोए, जो प्राचीन वृक्षों पर शोध कर रहे हैं, ने मेरे खेतों में जौ की लहलहाती फसल और हरी खाद बिछी देखी तो उन्होंने उसे अद्भुत कलाकृति की संज्ञा दी। एक स्थानीय किसान, जिसने सोचा था कि मेरे खेत खरपतवार से अटे पड़े होंगे, इतने पौधों के बीच जौ को मजबूती से उगता देख हैरत में पड़ गया। कई तकनीकी विशेषज्ञ भी यहाँ आकर खरपतवार, जलकुम्भी और तिपतिया को चारों ओर उगता देख आश्चर्य से सिर हिलाते लौटे हैं।

बीस वर्ष पहले जब मैं अपने फल-बागान में स्थायी भूमि ढकावन को प्रोत्साहित कर रहा था, तो देश के किसी भी खेत या बागान में घास का एक तिनका तक नज़र न आता था। मेरे फल-बागान जैसे बागानों को देख लोग यह समझ सके कि खरपतवार और घास के बीच भी फलदार पेड़ अच्छी तरह बढ़ सकते हैं। आज घास से पटे फल-बागान जापान-भर में आम हो चुके हैं, और घास से रीते फल-बागान आपको बिरले ही दिखाई देंगे।

ठीक यही बात अनाज के खेतों पर भी लागू होती है। धान, जौ और जई, सालभर तिपतिया और खरपतवार से ढके खेतों में सफलतापूर्वक उगाए जा सकते हैं।

मुझे इन खेतों में वार्षिक बुआई और कटाई की समय-सारिणी को विस्तार से बताने दें। अक्टूबर माह की शुरुआत में फसल कटने के पहले ही, सफेद तिपतिया और तेज़ी से बढ़ने वाले सर्दियों के अनाज की किस्मों के बीज धान की पकती फसल के बीच बिखेर दिए जाते हैं।** धान कटने के लिए तैयार हो उसके पहले तिपतिया और जौ या जई के पौधे अंकुरित हो एक-दो इंच बढ़ भी जाते हैं। धान की कटाई के दौरान अंकुरित बीज फसल काटने वालों के पैरों तले रौंदे जाते हैं, पर कुछ ही समय में

---

* होशंगाबाद के राजू टाइटस जिनके फ़ार्म को देखने फुकुओका दो बार आए थे, बताते हैं कि फुकुओका के अनुसार 1 वर्ग मीटर से 1 किलो अनाज प्राप्त होता है। और प्रति चौथाई एकड़ से एक टन से भी अधिक।

** सफेद-तिपतिया के बीज प्रति चौथाई एकड़ पर लगभग 1 पाउण्ड, जौ या जई प्रति चौथाई एकड़ साढ़े 6 से 13 पाउण्ड बोए जाते हैं। जिन किसानों को अनुभव न हो, या जिन खेतों की मिट्टी कड़ी या खराब हो, वहाँ शुरूआत में अधिक बीज बोना बेहतर होता है। जैसे-जैसे पुआल और हरी खाद से मिट्टी सुधरने लगे और किसान भी बिना जोते, सीधे बीज छिड़कने के तरीके से वाकिफ हो जाए, बीज की मात्रा घटाई जा सकती है।

फिर सम्हल जाते हैं। जब धान की बालियों से चावल निकाल लिए जाते हैं, तो सारा का सारा पुआल और भूसा इन खेतों पर वापस बिछा दिया जाता है।

पतझड़ के मौसम में धान की बुवाई कर अगर इसे बिना ढके छोड़ दिया जाता है तो अकसर बीजों को चूहे और चिड़िया खा डालते हैं, या कभी वे मिट्टी में ही सड़ जाते हैं। इसलिए मैं धान के बीजों को बोने के पहले उन्हें मिट्टी की गोलियों में दबा देता हूँ। इन गोलियों को बनाने के लिए पहले बीज किसी सपाट तगारी या टोकरी में फैला दिए जाते हैं और तब उन्हें गोल-गोल, आगे पीछे हिलाया जाता है। इस दौरान उन पर महीन मिट्टी बुरकी जाती है और बीच-बीच में पानी के छींटे डाले जाते हैं। इससे आधा इंच गोलाई की नन्ही-नन्हीं गोलियों बन जाती हैं।

गोलियाँ बनाने का एक तरीका और है। इसमें पहले बिना भूसी उतरा धान का बीज कई घण्टों तक पानी में भिगाया जाता है। तब बीज निकाल गीली मिट्टी में मिला दिए जाते हैं और इस मिश्रण को हाथ या पैरों से गूंथा जाता है। तब यह मिट्टी दबाकर चूज़ो के दड़बे की जाली से गुज़ारी जाती है। इससे मिट्टी छोटे-छोटे ढेलों का आकार ले लेती है। ये ढेले एक-दो दिन सूखने छोड़ दिए जाते हैं, और तब उन्हें हथेलियों पर गोल-गोल घुमाकर आसानी से गोलियों का आकार दे दिया जाता है। सही तो यही रहता है कि हर गोले में एक ही बीज हो। यों एक ही दिन में कई एकड़ के लिए बीज की गोलियाँ तैयार हो जाती हैं।

परिस्थिति के हिसाब से मैं कभी-कभी बोने के पहले दूसरे अनाज या सब्ज़ियों के बीज भी इन गोलियों में डाल देता हूँ।

मध्य नवम्बर और मध्य दिसम्बर के बीच का समय जौ या जई की खड़ी फसल के बीच धान के बीजों की गोलियों को बिखराने के लिए सही रहता है। पर उन्हें बसन्त में भी बिखेरा जा सकता है।*

* धान की बिजाई प्रति चौथाई एकड़ में साढ़े 4 से 9 पाउण्ड तक की जाती है। अप्रैल माह के अंत में श्री फुकुओका पतझड़ में बोए गए बीजों का अंकुरण देखते हैं और ज़रूरी लगे तो और बीज-गोलियाँ बिखेरते हैं।

एक दिन में ही इतनी गोलियाँ बन जाती है कि उनसे कई एकड़ भूमि पर बुआई की जा सकेगी।

अक्टूबर में, चावल काटने तक अगले वर्ष के बीजों की बोवनी के बाद खेतों में पुआल बिखेर दिया जाता है।

मुर्गियों के खाद की पतली-सी परत भी खेत पर फैला दी जाती है ताकि पुआल आसानी से गल जाए। यों समूचे साल-भर की बिजाई पूरी होती है।

मई माह में सर्दियों के अनाज काटे जाते हैं। अनाज के दाने अलग करने के बाद, सारा का सारा पुआल खेतों में बिखेर दिया जाता है।

तब हफ्ते या दस दिन के लिए खेतों में पानी भर कर छोड़ दिया जाता है। इससे खरपतवार और तिपतिया कमज़ोर होते हैं, पर धान के पौधे मज़बूती से बढ़ पुआल की परत भेद कर ऊपर बढ़ आते हैं। जून-जुलाई में इन पौधों के लिए बरसाती पानी ही पर्याप्त होता है, अगस्त में करीब सप्ताह में एक बार ताज़ा पानी खेतों में सींचा जाता है पर पानी को रुकने नहीं दिया जाता है। यों पतझड़ की फसल तैयार हो जाती है।

यही प्राकृतिक तरीके से धान और सर्दियों के अनाज उगाने का वार्षिक चक्र है। बिजाई और कटाई प्रकृति की स्वाभाविक लय-ताल के इतने करीब होती है कि इसे कृषि तकनीक कहने के बजाए प्राकृतिक प्रक्रिया ही माना जा सकता है।

एक-दो घण्टों में ही एक किसान चौथाई एकड़ के खेत में बिजाई या पुआल बिछाने का काम पूरा कर सकता है। फसल कटाई के काम को छोड़ दें, तो सर्दियों के अनाज की खेती का सारा काम कर सकता है, और धान की फसल से जुड़ा सारा काम दो या तीन लोग परम्परागत जापानी औज़ारों के सहारे कर सकते हैं। अनाज उगाने का इससे आसान और सरल उपाय भला कौन-सा होगा। इसमें बीज बिखेरने और पुआल बिछाने से अधिक कुछ करना ही नहीं पड़ता, पर इस सरलता तक पहुँचने में मुझे तीस वर्ष लग गए हैं।

खेती करने का यह तरीका जापानी द्वीपों की कुदरती स्थितियों के अनुरूप विकसित हुआ है, पर मुझे लगता है कि प्राकृतिक खेती की यह विधि अन्य भागों में विभिन्न प्रकार की देशज फसलें उगाने में भी काम में ली जा सकती है। जिन इलाकों में पानी की उपलब्धता कठिन है, वहाँ उदाहरण के लिए ऊँची ज़मीन की धान, जंगली गेहूँ (बक व्हीट), ज्वार, बाजरा आदि उगाए जा सकते हैं। श्वेत तिपतिया की जगह, तिपतिया की अन्य किस्में, अल्फाआल्फा घास, या धीमीदार बेच पौधा और शमी धान्य (ल्यूपिन) आदि खेतों के ढकावन के रूप में बेहतर सिद्ध हो सकती हैं। प्राकृतिक कृषि किसी क्षेत्र-विशेष की स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप अपना खास रूप धारण करती है।

दिसम्बर तक सर्दियों का अनाज पुआल भेद कर फूट आता है, और धान के बीज बसन्त तक सोये रहते हैं।

इस तरह की खेतीबारी को पूरी तरह अपनाने के पहले थोड़ी-बहुत गुड़ाई, जैविक खाद डालना या छंटाई आदि की शुरुआत में ज़रूरत पड़ सकती है। पर क्रमश: इन उपायों को साल-दर-साल कम करते जाना चाहिए। अंतत: जो महत्वपूर्ण होता है वह अन्न उगाने की तकनीक नहीं, बल्कि किसान की मन:स्थिति ही होती है।

जाड़े की फसल मई में काटी जाती है। चावल के अंकुर काटने वालों के पैरों तले रौंदे जाते हैं। लेकिन जल्दी ही फिर पनप आते हैं।

पुआल के साथ खेती

पुआल बिछाना गैरज़रूरी माना जा सकता है, पर जिस विधि से मैं धान और सर्दियों के अनाज उगाता हूँ, उसके लिए यह एक बुनियादी काम है। इसका हर चीज़ से रिश्ता है, ज़मीन के उपजाऊपन से, अंकुरण से, खरपतावारों से, गौरैया को दूर रखने से, जल प्रबंधन से। वास्तविक व्यवहार में और सिद्धान्त में भी, पुआल का इस्तेमाल खेती के लिए एक अत्यावश्यक मुद्दा है। पर यह बात मैं लोगों को समझाने में नाकामयाब रहा हूँ।

बिना काटे पुआल बिछाना

ओकायामा-परीक्षण केंद्र अपने प्रायोगिक खेतों में से 80 प्रतिशत हिस्से में सीधी बिजाई विधि से धान उगाने की चेष्टा कर रहा है। जब मैंने सुझाया कि वे पुआल को बिना काटे खेतों में बिखेर दें, तो उन्हें लगा कि यह तो सही हो ही नहीं सकता। तब उन्होंने अपने प्रयोग के लिए पुआल को मशीन से कुट्टी में बदल डाला। कुछ साल पहले मैं उनका परीक्षण देखने गया तो मैंने पाया कि उन्होंने खेतों को बाँट रखा है, कुछ में काटा हुआ पुआल बिछा है, कुछ में बिना काटा और कुछ में पुआल बिछाया ही नहीं गया है। ठीक यही मैंने काफी समय तक किया था, और क्योंकि साबुत पुआल ही सबसे बढ़िया रहा, मैं उसी का उपयोग करता हूँ।

श्री फूजी, जो शिमाने जिला के कृषि हाई स्कूल के शिक्षक हैं, सीधे बिजाई का प्रयोग करना चाहते थे, सो वे मेरे खेतों को देखने आए। मैंने सुझाया कि वे अपने खेत पर बिना काटी पुआल बिछाएं। वे अगले साल लौटे और बताया कि उनका प्रयोग असफल रहा है। उनका वर्णन ध्यान से सुनने पर पता चला कि उन्होंने पुआल को बिल्कुल सीधे-सीधे और करीने से बिछाया था जैसे जापानी घरों के पिछवाड़े उगाए गए बागों में किया जाता है। अगर आप ऐसा करते हैं तो बीज ठीक से अंकुरित ही नहीं हो सकेंगे। इसी तरह अगर जौ और जई की पुआल बड़ी तरतीब से बिछाई जाएगी तो धान के बीजों को पुआल के बीच से फूट कर बाहर निकलने में दिक्कत होगी। सही यही रहता है कि पुआल को किसी भी तरह, बेतरतीब इधर-उधर फेंक दिया जाए, मानो वे खुद-ब-खुद स्वाभाविक रूप से गिरे हों।

धान की पुआल सर्दियों के अनाज के लिए उम्दा ढकावन का काम करती है और सर्दियों के अनाज की नरवई (पुआल) धान के लिए। मैं चाहता हूँ कि यह बात ठीक से समझ ली जाए। अगर धान की ताज़ी पुआल बिछाई जाती है तो धान के कई रोग आपकी फसल पर हमला कर सकते हैं।

परन्तु अगर पतझड़ में धान की पुआल बिछाई तो धान के रोग सर्दियों के अनाज को प्रदूषित नहीं करते और जब तक अगली बसन्त में धान के पौधे फूटते हैं तब तक वह पुआल पूरी तरह सड़-गल कर खाद में बदल चुकी होती है। धान की ताज़ी पुआल दूसरे अनाजों के लिए सुरक्षित है, ठीक उसी तरह बक व्हीट (जंगली गेहूँ) की पुआल का उपयोग दूसरे अनाजों और धान के लिए किया जा सकता है। आमतौर पर सर्दियों के अनाजों, जैसे गेहूँ, जई और जौ की नरवई का उपयोग दूसरे किसी तरह के सर्दियों के अनाजों के लिए भी नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे रोग या नुकसान हो सकता है।

पिछली फसल का जितना भी पुआल और दाने निकाल लेने के बाद जो भी भूसा बचता है, वह सारा का सारा खेत को वापस लौटाना चाहिए।

पुआल धरती को समृद्ध बनाता है

पुआल छितराने से मिट्टी की संरचना कायम रहती है और धरती और समृद्ध बनती है जिससे तैयार खाद का उपयोग गैरज़रूरी हो जाता है। ज़ाहिर है, यह बात खेत न जोतने से भी जुड़ी है। मेरे खेत जापान के शायद अकेले खेत होंगे जिन्हें पिछले बीस सालों से जोता नहीं गया है और इनकी मिट्टी हर ऋतु के साथ सुधरती गई है। मेरा अनुमान है कि इन वर्षों में इन खेतों की ह्यूमस, सूखे पत्तों, पौधो आदि से समृद्ध ऊपरी सतह चार इंच से भी अधिक सुधर गई है। ऐसा इसलिए हो सका है क्योंकि जो कुछ भी इन खेतों में उगता है, उसमें से सिर्फ अनाज निकालने के बाद शेष सब-कुछ इन्हीं खेतों की मिट्टी को वापस लौटा दिया जाता है।

जैविक खाद (कम्पोस्ट) तैयार करने की ज़रूरत ही नहीं

कम्पोस्ट तैयार करने की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं यह नहीं कहूँगा कि उसे तैयार करने में इतनी मेहनत करने की ज़रूरत नहीं पड़ती – सिर्फ यही कहूँ कि उसे तैयार करने में इतनी मेहनत करने की ज़रूरत नहीं है। अगर खेतों में ऊपरी सतह पर बसन्त या पतझड़ के मौसम में पुआल छोड़ दी जाती है और उस पर मुर्गियों या बतखों की बींट की हलकी परत डाल दी जाती है तो, वह पुआल अगले छह महीनों में पूरी तरह सड़-गल जाता है।

सामान्य तरीके से कम्पोस्ट बनाने के लिए किसान तेज़ धूप में पागलों की तरह जुटते हैं, पुआल काटते हैं, पानी डालते हैं, चूना डालते हैं और उस ढेर को उलटते-पलटते हैं, तब उसे ढोकर खेतों तक ले जाते हैं। किसान खुद की काया को इतना कष्ट इसलिए देता है क्योंकि वह सोचता है कि यही 'बेहतर तरीका' है। पर मैं चाहता हूँ कि लोग पुआल, भूसा या लकड़ी की खपच्चियों को ही अपने खेतों में छितरा दें। तोकाइदो रेखा के पास पश्चिमी जापान की यात्रा के दौरान मैंने गौर किया है कि लोग अब अपनी पुआल उस समय की तुलना में अधिक मोटी काटने लगे हैं, जब मैंने पहले-पहल पुआल को बिना काटे बिखेरने की बात कहनी शुरु की थी। मुझे किसानों को श्रेय देना ही होगा। पर आधुनिक विशेषज्ञ अब तक यह कह रहे हैं कि प्रति चौथाई एकड़ केवल इतने सौ पाउण्ड पुआल का इस्तेमाल सबसे सही होता है। वे यह क्यों नहीं कहते कि खेत का सारा पुआल वापस वहीं डाल

पैर से घुमाये जाने वाले पीपे से गहाई इसके बाद उड़ावनी करके अनाज का भंडारण कर दिया जाता है।
तथा पुआल वापस खेतों में पहुँचा दिया जाता है।

देना चाहिए? रेलगाड़ी की खिड़की से बाहर देखने पर आप पाएंगे कि जिन किसानों ने तकरीबन अपनी आधी पुआल काट कर बिखेरी है उन्होंने शेष पुआल बरसात में सड़ने को फेंक दी है।

अगर जापान के सभी किसान एकजुट हो जाते हैं और वे खेतों की सारी की सारी पुआल वापस खेतों में डालने लगते हैं, तो नतीजा यह होगा कि धरती को भारी मात्रा में जैविक खाद वापस मिल सकेगी।

अंकुरण

सैकड़ों सालों से किसान बड़ी सावधानी से स्वस्थ धान के पौधे उगाने के लिए क्यारियाँ बनाते आए हैं। इन छोटी क्यारियों की ऐसी सफाई की जाती थी मानो वे परिवार के देवताओं की वेदी हो। तब खेतों को जोता जाता था, उन पर बालू और धान के भूसे की राख बिछाई जाती और प्रार्थना की जाती थी ताकि पौधे ठीक से पनपें।

परम्परागत रूप से अनाज के दाने निकालने वाली, पैर से चालित घुमन्तू ड्रम मशीन (क्योटो) काम में ली जाती है। इसके बाद दानों को फटकार कर अलग कर उनका भण्डारण किया जाता है, तब पुआल खेत में लौटा दी जाती है। सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आस-पास के गाँववालों ने यह समझा कि मैं पागल हूँ, जो उस वक्त बीज छितरा रहा हूँ, जब सर्दियों की फसल खड़ी है और चारों ओर अधगली पुआल बिखरी पड़ी है।

ज़ाहिर है कि जब अच्छी तरह जोते गए खेत में सीधे बीज बोए जाते हैं तो वे भलीभांति अंकुरित भी होते हैं। पर अगर बरसात हो जाए और खेतों की मिट्टी कादे में बदल जाए तो उसमें चलना कठिन होता है, और आपको बिजाई मुल्तवी करनी पड़ती है। इस मामले में जुताई न करने की विधि अधिक सुरक्षित रहती है, पर इसमें छोटे जानवरों, जैसे छछूंदर, झींगुर, चूहों और घोंघों का खतरा रहता है जो बीज खा जाते हैं। बीजों को मिट्टी की गोलियों में दबाने से इस समस्या का भी समाधान होता है।

सर्दियों के अनाज की बुआई का सामान्य तरीका है बीजों को बो कर उन्हें मिट्टी से ढक देना। अगर बीज बहुत गहरे बोए जाएँ तो वे गल जाते हैं। मैं ये बीज छोटे-छोटे छेदों में या कतारों में, उन्हें बिना ढके डाला करता था, पर दोनों ही तरीकों में मुझे कई असफलताओं का सामना करना पड़ा।

पर पिछले कुछ समय से मैं आलसी बन गया हूँ और लीकें या कतारें या छोटे छेद खोदने के बदले मैं बीजों को मिट्टी की गोलियों में लपेट सीधे खेत में बिखेर देता हूँ। सतह पर अंकुर सबसे अच्छे फूटते हैं जहाँ उन्हें ऑक्सीजन मिलती है। मैंने पाया है कि जहाँ मिट्टी की गोलियाँ पुआल से ढकी होती हैं, बीज बढ़िया तरीके से अंकुरित होते हैं, और जिस साल तेज बारिश हो, तब भी वे नहीं गलते हैं।

पुआल से खरपतवार और गौरैया से निपटने में भी मदद मिलती है

आदर्श स्थिति में चौथाई एकड़ खेत से लगभग 900 पाउण्ड जौ की नरवाई (पुआल) मिलती है। अगर यह सारी की सारी पुआल खेत पर वापस फैला दी जाए, तो उसकी सतह पूरी तरह ढक जाएगी।

कांस घास जैसी परेशान करने वाली खरपतवार, जो बिना जोते सीधे बीज बोने की विधि के लिए सबसे बड़ी समस्या है, उसे भी पुआल से नियंत्रित किया जा सकता है।

गौरैया ने भी मुझे कई बार सताया है। अगर पक्षियों से निपटने का कोई भरोसेमंद तरीका न हो तो सीधे बीज बिखेरने की विधि कभी सफल हो ही नहीं सकती। कई क्षेत्रों में प्रत्यक्ष बीजारोपण की विधि इसी कारण लोकप्रिय नहीं हो पाई है। आप में से कई लोगों को गौरैया चिड़ियों से मुसीबत का सामना करना पड़ा होगा, और आप समझ सकते होंगे कि मेरा मतलब क्या है।

मुझे वह समय याद आता है जब यह चिड़िया मेरा पीछा किया करती थी और मैं खेत के उस पार पहुँचु उसके पहले ही सारे के सारे बीज हजम कर जाया करती थीं। मैंने बिजूका, जालियाँ, रस्सी से बंधे खनखनाते खाली डब्बे, सबका इस्तेमाल किया, पर उन्हें उड़ाने का कोई भी तरीका पूरी तरह कारगर न हो पाया। और अगर कोई तरीका कारगर होता भी तो वह साल-दो साल से ज्यादा प्रभावी न रह पाता।

मेरे अनुभव ने दर्शाया है कि जिस समय पिछली फसल खेत में खड़ी हो, उसी समय बीज बोना सही रहता है ताकि बीज घास व खरपतवार के बीच छिप जाएं और तब फसल कटते ही धान, जई या ज्वार की पुआल बिछा देने से गौरैया से होने वाली समस्या से भी निपटा जा सकता है।

सालोंसाल प्रयोग करते हुए मैंने कई गलतियाँ की हैं और कई तरह की असफलताओं का सामना किया है। फसलों की खेती करते समय क्या-क्या गड़बड़ हो सकती है, इस बारे में पूरे जापान में शायद मैं ही सबसे अधिक जानता हूँ। जब बिना जोते धान और सर्दियों के अनाज उगाने में, मैं पहली बार सफल रहा तो मैं उतना ही खुश था जितना प्रसन्न अमरीका की खोज कर कोलम्बस हुआ होगा।

सूखे खेत में धान उगाना

अगस्त की शुरुआत में जब मेरे पड़ोसियों के खेतों में धान के पौधे कमर तक बढ़ आते हैं, मेरे पौधे ऊँचाई में उनसे करीब आधे ही होते हैं। जुलाई के अंत में जो लोग यहाँ मेरे खेत देखने आते हैं वे शंकालु हो पूछते हैं, 'फुकुओका सान क्या यह धान ठीक-ठाक उग सकेगा?, 'बेशक', मैं कहता हूँ, 'चिंता की कोई बात नहीं है।'

मैं लंबे और तेज़ रफ्तार से उगने वाले बड़े पत्तों वाला धान उगाने की कोशिश नहीं करता। मेरी कोशिश रहती है कि ये पौधे यथासंभव सीमित बढ़त लें। उनका माथा छोटा रहे, पौधों को ज़रूरत से ज्यादा पोषण न दो, उन्हें धान के पौधों के स्वाभाविक आकार में ही बढ़ने दो।

अमूमन धान के तीन-चार फुट ऊँचे बढ़ आए पौधों पर सघन पत्तियाँ लहलहाने लगती हैं, और वे यह आभास देती हैं कि उनमें ढेर-सा धान उगेगा। परन्तु दरअसल केवल पौधे की डंठल और पत्ते ही ताकतवर बनते हैं। यानी पौधे में मांड (स्टार्च) का उत्पादन तो खूब होता है, पर उसकी प्रभावोत्पादकता कम रहती है। इतनी कम कि उसकी ऊर्जा वनस्पति उत्पादन में ही खर्च हो जाती है और धान के दानों के लिए कुछ नहीं बचता। उदाहरण के लिए लंबी डंठल वाले धान के पौधे अगर 2000 पाउण्ड पुआल देते हैं तो धान के दाने करीब 1000-1200 पाउण्ड ही रह जाएंगे। परन्तु धान के छोटे पौधे, जैसे मेरे खेतों में उगाए जाते हैं 2000 पाउण्ड पुआल के साथ लगभग 2000 पाउण्ड ही धान की फसल देते हैं। अच्छी फसल होने पर मेरे पौधों का उत्पादन 2400 पाउण्ड भी हो जाता है, अर्थात पुआल की तुलना में 20 प्रतिशत अधिक भार धान का होता है।

सूखे खेतों में उगाए धान के पौधे इतना ऊँचा नहीं बढ़ते। इससे उन्हें सूरज की रोशनी एकसार मिलती है, और वह पौधे के आधार व निचली पत्तियों तक भी पहुँच पाती है। पत्ते का एक वर्ग इंच करीब छह धान के दानों के उत्पादन के लिए काफी होता हैं। मतलब तीन-चार छोटी पत्तियाँ एक बाली में सौ धान के दाने बनाने के लिए काफी होती है। मैं बुआई सघन करता हूँ जिससे मुझे हर वर्ग गज में करीब ढाई-तीन सौ बालियों वाले डंठल (मतलब कोई 20-25 पौधे) मिलते हैं। अगर आपके अधिक बीज अंकुरित हों और आप लंबे-ऊँचे पौधे उगाना न चाहें तो आप बिना खास मुश्किल उठाए अच्छी फसल पा सकते हैं। यही बात गेहूँ, जई, जंगली गेहूँ, बाजरा और अनाज की दूसरी किस्मों के लिए भी सच है।

धान की खेती का जो आम तरीका है उसमें धान की फसल के पूरे मौसम में खेतों में हमेशा ही कई इंच पानी रखा जाता है। किसान इतनी शताब्दियों से पानी में ही धान उगाते आए हैं कि अधिकांश लोग अब यह सोचने लगे हैं कि धान उगाने का कोई दूसरा तरीका है ही नहीं। "गीले खेतों" में उगाई जाने वाली धान की किस्में तुलनात्मक रूप से ताकतवर होती हैं, बशर्ते उन्हें पानी से भरे खेतों में उगाया जाए। पर इस प्रकार धान उगाना पौधों के लिए अच्छा नहीं होता। धान के पौधे तब ही सबसे अच्छी तरह पनपते हैं जब मिट्टी की पूरी क्षमता का करीब 60 से 80 प्रतिशत पानी ही मिट्टी में हो। जब खेतों में पानी न भरा हो तो पौधों की जड़ें अधिक मजबूत होती हैं और रोगों व कीटों के हमलों से वे लड़ भी सकते हैं।

"खड़े पानी से भरे खेत" में धान उगाने का मुख्य कारण है खरपतवार को नियंत्रित करने के लिए ऐसा वातावरण बनाना, जिसमें खरपतवार की कुछ ही किस्में बच सकें। पर, जो खरपतवार बची रहती है उसे हाथ के औज़ार के सहारे उखाड़ना पड़ता है। परंपरागत विधि से धान की खेती करने पर यह कमरतोड़ू काम धान उगाने के लिए हर मौसम में कई बार करना पड़ता है।

जून के महीने में खेतों में वन मेथी व खरपतवार को कमज़ोर करने तथा चावल के अंकुरों को ज़मीन से बाहर फुटने का मौका देने के लिये पानी रोका जाता है।

जून के महीने में, बरसात के मौसम में, मैं करीब एक सप्ताह तक अपने धान के खेतों में पानी भरा रखता हूँ। सूखे खेत में उगने वाली खरपतवार की किस्में इस छोटी-सी अवधि में भी, बिना ऑक्सीजन बची नहीं रह पातीं, और तिपतिया भी मुरझा कर पीली पड़ जाती है। यहाँ इरादा तिपतिया को मारने का नहीं, बल्कि उसे कमज़ोर बना डालने का है ताकि धान के पौधे अच्छी तरह जम जाएं। जब पानी (यथाशीघ्र) निकाल दिया जाता है तो तिपतिया फिर से स्वस्थ हो जाती है और खेत में धान के बढ़ते पौधों के नीचे फैल जाती है। इसके बाद पानी प्रबंधन की दिशा में मैं कुछ और नहीं करता। यानी खेती के मौसम के पहले आधे भाग में मैं बिल्कुल सिंचाई नहीं करता। जिन सालों में कम बरसात होती है, उनमें भी मिट्टी में पुआल और हरी खाद की परत के नीचे नमी बनी रहती है। अगस्त में, मैं थोड़ा-थोड़ा पानी सींचता हूँ, पर उसे कभी खेत में खड़ा नहीं रहने देता।

अगर आप मेरे खेत का धान का पौधा किसी किसान को दिखाएंगे तो वह तत्काल उसे धान के पौधे के रूप में पहचान लेगा और कहेगा कि जैसा वह होना चाहिए, ठीक वैसा ही आदर्श रूप उसका है। उसे पता चल जाएगा कि बीज प्राकृतिक रूप से फूटे हैं, पौधों को पहले क्यारियों में उगाने के बाद खेत में रोपा नहीं गया है, कि यह पौधा खड़े पानी में नहीं उगाया गया है, और उसे रासायनिक खाद नहीं दी गई है। कोई भी किसान ये सारी बातें पौधे और उसकी जड़ों के आकार, उसके डंठल पर जोड़ों के फासलों को देखते ही बता देगा। अगर आप आदर्श आकार को समझते हैं तो आप अपने खेत की खास परिस्थितियों में ठीक उसी आकार का पौधा कैसे उगाएं, यह भी समझ लेंगे।

मैं प्रोफेसर मात्सूशिमा के इस विचार से कतई सहमत नहीं हूँ कि सबसे अच्छा तब रहता है कि पौधे के ऊपर से चलें तो उसकी चौथी पत्ती सबसे बड़ी हो। कई बार जब दूसरी या तीसरी पत्ती सबसे लंबी होती है तब ही सबसे बढ़िया नतीजा मिलता है। जब पौधा छोटा होता है, उस वक्त अगर उसकी बढ़त को कुछ रोका जाता है तो सबसे ऊपरी या दूसरी पत्ती ही सबसे लंबी हो जाती है और तब अच्छी फसल मिलती है।

प्रोफेसर मात्सूशिमा का सिद्धान्त नर्सरी में खाद देकर उगाए गए नाजुक धान के पौधों पर हुए प्रयोगों पर आधारित है। इसके विपरीत मेरा धान उसके पौधे के प्राकृतिक जीवनचक्र के अनुरूप उगाया गया होता है। लगभग उसी तरह मानो वह जंगली अवस्था में उगा हो। मैं पौधों को उनकी अपनी गति से बढ़ने और पकने की धीरज से राह जोहता हूँ।

हाल के सालों में, मैं दक्षिण की पुरानी लसदार चावल की किस्म उगाने की चेष्टा में लगा रहा हूँ। इस किस्म में पतझड़ में बोए गए हरेक बीज से औसतन 12 कल्ले फटते हैं और हरेक बाली में धान के लगभग 250 दाने होते हैं। मेरा विश्वास है कि इस किस्म से मैं एक दिन उतनी फसल पा सकूँगा, जो सैद्धान्तिक रूप से खेत में जितनी सौर ऊर्जा पहुँच पाती है उसके माध्यम से अधिकतम पाई जा सकती है, उसके करीब होगी। मेरे खेतों के कुछ हिस्सों में इस किस्म से प्रति चौथाई एकड़ 1650 पाउण्ड धान तो फिलहाल उगने लगा है।

तकनीशियनों की शंकालु नज़र से धान उगाने का मेरा तरीका निकटगामी या अंतरिम नतीजा कहलाएगा। वह कह सकता है कि 'अगर प्रयोग जारी रखा जाए तो किसी-न-किसी तरह की समस्या तो उठेगी ही', पर मैं बीस सालों से इसी तरह धान उगाता रहा हूँ। हर साल मेरी फसल बढ़ती गई है और मेरे खेतों की मिट्टी भी उपजाऊ बनती गई है।

फलदार पेड़

अपने घर के पास की पहाड़ियों के ढलानों पर मैं नीबू प्रजाति की कई किस्में भी उगाता हूँ। युद्ध के बाद जब मैंने खेती का काम शुरु किया, तब मेरे पास 1-3/4 एकड़ नारंगी का बागान और 3/8 एकड़ धान का खेत था, पर आज नारंगी बागान ही साढ़े 12 एकड़ में फैला है। यह ज़मीन मुझे इसलिए मिल पाई क्योंकि मैंने आस-पास की पहाड़ियों की त्याग दी गई ज़मीन हासिल की। तब मैंने खुद अपने हाथों से सारे इलाके को साफ किया।

इन पहाड़ी ढलानों के चीड़ के पेड़ कुछ साल पहले ही काट दिए गए थे, मुझे तो बस, उसके समोच्च रेखा के सहारे गड्ढे खोदने पड़े और उनमें नीबू प्रजाति के पौधे लगाने पड़े। कटे पेड़ों के ठूँठों पर उस समय भी पत्तियां फूटती नज़र आने लगी थीं, और कुछ समय बीतने के बाद जापानी पम्पास घास, कोगोन घास और फर्न आदि वनस्पतियाँ घनी हो फैल गई । संतरों के पौधे वनस्पति के इस जाल में खो गए।

चीड़ के फिर से उग आए अधिकाँश पौधों को मैंने काट दिया, पर 'कुछ' को हवा रोकने के कुदरती उपाय के रूप में बढ़ने दिया। इसके बाद मैंने भूमि पर उग आई गझिन घास को काटा और वहाँ तिपतिया बो दी।

छह-सात सालों बाद अंततः नींबू-नारंगी के पेड़ों पर फल आए। मैंने पेड़ों के पीछे की मिट्टी खोदी ताकि ढाल पर चबूतरे-से बना सकूँ और अब यह बागान शेष बागानों से कुछ फर्क लगता है।

गुड़ाई-जुताई न करने, रासायनिक खादों का इस्तेमाल न करने, कीटनाशकों और खरपतवारनाशकों का उपयोग न करने के सिद्धाँतों का मैंने यहाँ भी पालन किया। एक रोचक बात यह थी कि, जब तक पौधे फिर से उग आए और जंगल के पेड़ों के नीचे बढ़ते रहे, वहाँ किसी तरह के नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ें, जैसे आमतौर पर दिखने वाले तिकोने सिर वाले शल्की कीट के होने का कोई प्रमाण भी न था। पर, जैसे ही फिर से उग आए पेड़ों को काट दिया गया, पूरा इलाका कम जंगली हो गया और फल-बागान-सा दिखने लगा। तब कीड़े भी फिर से लौट आए।

फल के पेड़ों को शुरु से ही उनके स्वाभाविक आकार में बढ़ने देना सबसे अच्छा रहता है। पेड़ अपने-आप हर साल फल देता है। उसकी कटाई-छंटाई करने की कोई ज़रूरत नहीं होती। नारंगी प्रजाति का पेड़ ठीक उसी तरह बढ़ता है जैसे देवदार या चीड़ का। मतलब उसका केन्द्रीय तना सीधे

बढ़ता है और उसकी शाखाएँ बारी-बारी फैलती हैं। जाहिर है, नारंगी की सारी किस्में एक जैसे आकार-प्रकार की नहीं होगी। हास्साकु और शैडॉक किस्म के पेड़ काफी लंबे होते हैं, जबकि सर्दियों के उन्शू मैन्डारिन नारंगी के पेड़ छोटे और चौड़े होते हैं, जल्दी फलने वाले सात्सूमा मैन्डारिन नारंगियों के पेड़ पूरी तरह परिपक्व होने के बावजूद छोटे ही रहते हैं, पर हरेक का एक केन्द्रीय तना होता है।

प्राकृतिक परभक्षियों को न मारो

मेरा मानना है कि सभी जानते हैं कि बागानों के सबसे आम कीड़ों – रूबी स्केल और हौर्ड स्केल के भी अपने प्राकृतिक शत्रु होते हैं, सो उन्हें नियंत्रित करने के लिए कीटनाशकों के छिड़काव की जरूरत ही नहीं है। एक समय जापान मे फ्यूसौल नाम का कीटनाशक काम में लिया जाता था। इससे प्राकृतिक परभक्षी तो पूरी तरह नष्ट हो गए, पर उससे जो समस्याएँ पैदा हुई, वे कई जिलों में आज तक कायम हैं। इस अनुभव से मुझे लगता है कि अधिकांश किसान अब यह भी समझ गए होंगे कि परभक्षियों को खत्म करने से बाद में कीटों से होने वाला नुकसान और भी बढ़ जाता है।

जहाँ तक उन विषैले कीटों और शल्की कीटों का सवाल है, जो होते ही हैं, उनके लिए मशीन के तेल का, या जो रसायन परभक्षियों के लिए सबसे कम नुकसानदायक हो, उसे 200 या 400 गुना तरल कर गर्मियों के बीच में हलका छिड़काव किया जाए और उसके बाद कीट समुदायों को खुद ही अपना प्राकृतिक संतुलन बैठाने दिया जाए तो यह समस्या खुद-ब-खुद सुलझ जाती है। पर यही उपाय उस सूरत में नाकाम रहेगा जब जून या जुलाई में जैविक फॉस्फोरस कीटनाशक काम में लिया गया हो। क्योंकि ऐसे में इस रसायन से परभक्षी भी मर जाएंगे।

मैं यह नहीं कह रहा कि मैं तथाकथित निरापद 'जैविक' छिड़कावों, जैसे नमक-लहसुन का घोल या मशीन तेल के मिश्रण आदि की पैरवी करता हूँ, न ही मैं परेशान करने वाले कीड़ों को नियंत्रित करने के लिए किसी विदेशी परभक्षी प्रजाति को बागान में छोड़ने के पक्ष में हूँ। इससे पेड़ कमज़ोर होते हैं और उन पर कीटों का ऐसा हमला होता है कि वे अपने स्वाभाविक आकार से विकृत हो जाते हैं। अगर पेड़ इस प्रकार अप्राकृतिक रूप से बढ़ रहे हों और उनकी कोई सुध न ली जाए तो उनकी शाखाएँ उलझ जाती है और कीटों का हमला होता है। मैं यह पहले ही बता चुका हूँ कि मैं कई एकड़ में उगे नींबू प्रजाति के पेड़ों की इस प्रकार बलि चढ़ा चुका हूँ।

परन्तु अगर पेड़ों को धीरे-धीरे सुधारा जाए तो वे लगभग अपने मूल, स्वाभाविक आकार की ओर लौट जाते हैं। जब पेड़ खुद ताकतवर बनते हैं तो कीटों को नियंत्रित करने के उपाय भी अनावश्यक बन जाते हैं। अगर कोई पेड़ सावधानी से बोया जाए और उसे शुरु से ही उसके स्वाभाविक आकार में बढ़ने दिया जाए, तो किसी प्रकार की कटाई-छंटाई या छिड़काव की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। ज़्यादातर पेड़ों को बागानों में लाकर रोपने के पहले ही, नर्सरी में ही छांट दिया जाता है, या उनकी जड़ों को नुकसान पहुँचाया जाता है, इससे शुरु से ही पेड़ों की छंटाई आवश्यक हो जाती है।

फल बागान की मिट्टी को सुधारने के लिए मैंने कई किस्म के पेड़ लगाने की कोशिश की। उनमें से एक था मोरीशिमा अकेशिया (सम्भवतः बबूल की एक प्रजाति)। यह पेड़ साल-भर फूलता है, और हर मौसम में नई कलियाँ फूटती रहती हैं। इसकी कलियों के खाने वाले कीटाणु भारी संख्या में बढ़ने लगे। इन कीटाणुओं को बीर-बहूटी खाती है, तो जल्दी ही उनकी संख्या भी बढ़ने लगी। जब बीर बहूटियों ने सारे कीटाणु खा डाले, तो वे नींबू प्रजाति के पेड़ों पर चढ़ीं और वहाँ दूसरे कीट, जैसे विषैले कीट, तिकोने शल्की कीट और रंगदार इल्लियों को खाने लगीं।

बिना छंटाई या बिना खाद तथा रसायनों के छिड़काव के फल उगाना केवल प्राकृतिक वातावरण में ही सम्भव है।

फल-बागान की माटी

यह कहने की ज़रूरत ही नहीं है कि बागान के प्रबंधन का मूलभूत सरोकार है उसकी भूमि को सुधारना। अगर आप रासायनिक खाद का उपयोग करते हैं तो बेशक पेड़ बड़े-ऊँचे हो जाते हैं, पर साल-दर-साल उसकी मिट्टी अनुपजाऊ होती जाती है। रासायनिक खाद धरती की जीवन्तता को चूस लेती है। अगर उनका उपयोग एक भी पीढ़ी के लिए किया जाता है, तो भी इससे मिट्टी को भारी नुकसान होता है।

खेतीबारी में इससे ज्यादा सूझबूझ भरा कोई तरीका ही नहीं कि आप स्वस्थ भूमि सुधार का रास्ता अपनाएं। बीस साल पहले इस पहाड़ी का चेहरा नंगा था, उसकी लाल मिट्टी इतनी कठोर थी कि एक कुदाल तक घुसाई नहीं जा सकती थी। इस इलाके की मिट्टी भी कुछ ऐसी ही थी। लोग इसमें केवल आलू उगाते और जब धरती पूरी तरह चुक जाती तो खेतों को यों ही छोड़ जाते। आप कह सकते हैं कि मैं यहाँ नींबू-नारंगी और सब्जियाँ उगाने के बदले, यहाँ की मिट्टी की उर्वरकता को फिर से लौटा रहा हूँ।

मैंने इस बंजर पहाड़ी ढलानों को फिर से कैसे उपजाऊ बनाया इसी की बात करते हैं। युद्ध के बाद नींबू प्रजाति की किस्मों की सघन खेती करने के लिए गड्ढे खोद, जैविक खाद डाल, पेड़ लगाने की तकनीक को प्रोत्साहित किया जा रहा था। जब मैं परीक्षण केन्द्र से वापस लौट आया तो मैंने भी अपने फल-बागान में यही करने की कोशिश की। कुछ सालों बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह तरीका न केवल शारीरिक रूप से थकाने वाला है, बल्कि मिट्टी के उपजाऊपन को सुधारने की दृष्टि से बिलकुल बेकार है।

पहले-पहल मैंने पहाड़ों पर से उखाड़े गए पुआल और फर्न को गाड़ा। 90 पाउण्ड या उससे भी भारी गट्ठरों को ढो-ढोकर लाना तो मुश्किल था ही, पर मैंने पाया कि दो-तीन सालों बाद सूखे पौधों/पत्तों की इससे इतनी भी मिट्टी नहीं बन पाई कि उसे हाथ से उठाया जा सके। घास-फूस और दूसरी जैविक चीजों को गाड़ने के लिए मैंने जो संकरे लंबे गड्ढे खोदे थे, वे ढह गए और चौड़ी खाइयों में बदल गए।

इसके बाद मैंने लकड़ी गाड़ने की कोशिश की। यों लग सकता है कि धरती को सुधारने के लिए पुआल ही सबसे अच्छा रहेगा, पर लकड़ी से जितनी मिट्टी बनी, उसे देख कर लगा कि लकड़ी ही

बेहतर है। पर यह उपाय भी तब तक ही चल सकता है, जब तक काटने और गाड़ने को पेड़ हों। पर, जिसके बागान के आस-पास पेड़ न हों, उसके लिए अपने बागान में ही लकड़ी के लिए पेड़ उगाना बेहतर है बनिस्बत इसके कि उसे कहीं दूर से ढोकर लाया जाए।

मेरे बागान में चीड़ और देवदार वृक्ष हैं, कुछ नासपाती, अमरीकी खजूर (परसिमोन), लुकाट, जापानी चेरी और नींबू-नारंगी के पेड़ों की बीच कई देशज किस्मों के पेड़ भी उग रहे हैं। इनमें सबसे रोचक है, मोरीशीमा अकेशिया, यद्यपि वह देशज नहीं है। यह वही पेड़ है जिसका ज़िक्र पहले मैं बीर-बहूटी और स्वाभाविक परभक्षियों से सुरक्षा के सिलसिले में कर चुका हूँ। इसकी लकड़ी कठोर होती है इसके फूल मधुमक्खियों को आकर्षित करते हैं और पत्तियाँ चारे के काम में आती हैं। बागान

बीस साल पहले इस पहाड़ी का चेहरा बिल्कुल नंगा था, उसकी लाल मिट्टी इतनी कठोर थी कि एक कुदाल तक घुसाई नहीं जा सकती थी।

में कीटों से होने वाले नुकसान को यह रोकता है, यह कुदरती वायु अवरोधक है और इसकी जड़ों में रहने वाले राइज़ोबियम जीवाणु ज़मीन को उपजाऊ बनाते हैं।

यह पेड़ कुछ साल पहले ऑस्ट्रेलिया से जापान लाया गया था और मैंने देखा कि यह किसी भी दूसरे पेड़ से ज्यादा तेज़ी से बढ़ता है। कुछ ही महीनों मे इसकी जड़ें खूब गहराई तक चली जाती हैं और छह-साल में इसकी ऊँचाई टेलीफोन के खम्भे जितनी हो जाती है। साथ ही यह पेड़ नाइट्रोजन भी देता है। अगर चौथाई एकड़ में इसके 6 से 10 पेड़ लगा दिए जाएँ तो धरती की गहरी सतह में यह ज़मीन को सुधारने का काम करता है। और तो और, इसके चलते पहाड़ से ढो-ढोकर लक्कड़ लाने के पीठतोड़ू काम की ज़रूरत भी नहीं पड़ती।

धरती की ऊपरी सतह को सुधारने के लिए मैंने बंजर धरती पर सफेद तिपतिया और लूसन (अल्फाअल्फा) को मिलाकर बोया। उनको जमने में कई साल लगे, पर अंतत: वे पनपे और उन्होंने पहाड़ी ढलानों को ढक दिया । मैंने जापानी मूली (डाइकौन) भी बोई। इस सशक्त वनस्पति की जड़ें भी मिट्टी में काफी गहराई तक जाती हैं और वहाँ जैविक पोषण देने के साथ हवा और पानी जाने का रास्ता भी खोल देती हैं। वह हर मौसम में खुद फिर उग आती है और एक बार उसे बोने के बाद आप उसके बारे में भूल सकते हैं।

जैसे-जैसे ज़मीन सुधरती गई, खरपतवार वापस आने लगी। सात-आठ साल में बोई गई तिपतिया, खरपतवार के बीच लगभग खो-सी गई, सो मैंने गर्मियों में खरपतवार काटने के बाद* तिपतिया के कुछ और बीज छिटका दिए। इस सघन खरपतवार/तिपतिया की चादर के कारण, पिछले पच्चीस सालों में बागान की ऊपरी सतह, जो पहले कठोर लाल मिट्टी थी, ढीली, गहरे रंगत की बन चुकी है, जिसमें खूब जैविक तत्व और केंचुए हैं।

हरी खाद से मिट्टी की ऊपरी परत और मोरीशिमा अकेशिया की जड़ों की मदद से गहरी परत के सुधरने पर आप बिना खाद के ही काम चला सकते है और पेड़ों के बीच की मिट्टी को जोतने की भी कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। लंबे पेड़ हवा रोकने का काम करते हैं, बीच में नींबू प्रजाति के पेड़ हैं और नीचे हरी खाद की चादर, मैंने पाया है कि मैं अब आराम कर सकता हूँ और बागान को खुद अपना प्रबंधन करने छोड़ सकता हूँ।

* गर्मियों में श्री फुकुओका खरपतवार, कांटेदार झाड़ी और फलदार पेड़ों के नीचे उग आए नन्हें पौधों को एक हत्थेदार दरांती से काटते हैं।

सब्ज़ियों को जंगली वनस्पति की तरह उगाना

अब बात करते हैं सब्जियाँ उगाने की। परिवार की रसोई की खपत के लिए सब्ज़ियाँ उगाने का काम या तो घर के पिछवाड़े के बाग में किया जा सकता है या फिर बेकार पड़ी खाली ज़मीन पर।

पिछवाड़े के बाग के लिए इतना कहना ही काफी है कि जैविक कम्पोस्ट और खाद से तैयार जमीन में सही समय पर सही सब्ज़ियाँ उगाई जाए। रसोईघर के लिए सब्ज़ियाँ उगाने की पुरानी जापानी विधि जीवन की प्राकृतिक लय के अनुरूप है। बच्चे फलों के पेड़ों के नीचे खेलते हैं, सूअर रसोई की जूठन आदि खाते हैं और मिट्टी को खोद खाना तलाशते हैं। कुत्ते भौंकते और खेलते हैं और किसान उपजाऊ धरती में बीज बोता है। सब्जियों के साथ कीड़े-मकोड़े भी उगते हैं, मुर्गियाँ कीड़े खाती हैं और बच्चों के खाने के लिए अण्डे भी देती हैं।

एक ठेठ जापानी परिवार बीस साल पहले तक ठीक इसी तरह सब्ज़ियाँ उगाया करता था।

पौध-रोगों की रोकथाम के लिए सही समय पर परंपरागत फसलें उगाई जाती थीं, बची-खुची सारी जैविक सामग्री धरती को लौटा दी जाती थी और बदल-बदल कर फ़सल उगा कर मिट्टी को स्वस्थ रखा जाता था। नुकसान पहुँचाने वाले कीट या तो हाथ से बीन लिए जाते थे या उन्हें मुर्गियाँ चुग जाती थी। दक्षिणी शिकोकू में एक खास तरह की मुर्गी होती थी जो बिना जड़ों या पौधों को नुकसान किए सब्ज़ियों पर लगे कीड़े-मकोड़े चुग जाती थी।

कुछ लोग पहले-पहल पशु या मानव-मल के उपयोग के बारे में शंका जता सकते हैं क्योंकि उन्हें यह तरीका आदिम, या गंदा लगता है। आज लोग 'साफ' सब्ज़ियाँ चाहते हैं, सो किसान उन्हें, गर्मघरों (हॉट हाउस) में, मिट्टी के बिना ही उगाते हैं । बजरी संकरण, रेत संकरण, जलकृषि आदि की तकनीकें दिन-ब-दिन लोकप्रिय होती जा रही हैं। आज रासायनिक पोषकों और विनायल परदों से छंट कर आने वाली रोशनी में सब्ज़ियाँ उगाई जा रही हैं। आश्चर्य की बात यह है कि लोग रसायनों से उगाई गई सब्ज़ियों को साफ और खाने के लिए सुरक्षित मानते हैं। जबकि सच यह है कि मिट्टी में उगी खाने की चीजें, जो कीड़ों, कीटाणुओं व सड़ चुके पशु-खाद से संतुलित की गई हों, वे ही सबसे साफ-सुथरी और स्वास्थ्यवर्धक होती हैं।

खाली ज़मीन, नदी के किनारे या बंजर ज़मीन पर 'अर्ध-जंगली' तरीके से सब्ज़ियाँ उगानी हों, तो मेरी समझ से केवल कुछ बीज फेंक देने चाहिए और सब्ज़ियों को खरपतवार के साथ-साथ उगने देना चाहिए। मैं अपनी सब्ज़ियाँ पहाड़ी ढलान पर नींबू प्रजाति के पेड़ों के बीच उगाता हूँ।

ज़रूरी बात यह है कि बीज बोने का सही समय पता होना चाहिए। बसंत की सब्ज़ियों का सही समय वह है जब सर्दियों की खरपतवार सूख रही हो, मतलब गर्मियों की खरपतवार फूटने के कुछ पहले।* पतझड़ की सब्ज़ियाँ उगाने के लिए बीज उस वक्त छितराने होंगे जब गर्मियों की घास खत्म हो रही हो और सर्दियों की खरपतवार उस समय तक उगी न हो।

अच्छा यही है कि तब तक रुका जाए जब तक ऐसी बरसात न आए जो कुछ दिनों तक जारी रहे। तब खरपतवार की परत को कुछ काटा जाए और सब्ज़ियों के बीज बिखेर दिए जाएँ। उन्हें मिट्टी से ढकने की ज़रूरत नहीं है, बस जो खरपतवार काटी जाए, उसे ही वापस बिछा दिया जाए ताकि हरी खाद भी मिले और अंकुरित होने तक बीज चिड़ियों और मुर्गियों से छुपे रहें। आमतौर पर खरपतवार को दो-तीन बार काटना पड़ता है ताकि सब्ज़ियों के पौधे शुरु में अपनी बढ़त ले सकें, आम तौर पर खरपतवार को एक ही बार काटना भी काफी रहता है।

जहाँ खरपतवार और तिपतिया घनी न हो, वहाँ आप केवल बीज बिखेर सकते हैं। ज़ाहिर है कुछ बीज तो मुर्गियाँ चुग लेंगी, पर कई अंकुरित होंगे। अगर आप उन्हें कतार से एक लकीर में बोएंगे तो संभावना यह है कि गुबरैला या दूसरे कीड़े कई बीजों को खा जाएँ। वे सीधी रेखा में चलते हैं। मुर्गियाँ भी उस जगह को देख लेती हैं जिसे साफ किया गया हो, और तब वहाँ चोंच से खोदती हैं। मेरा अनुभव यही है कि बीजों को यहाँ-वहाँ बिखेर देना ही सबसे बढ़िया रहता है।

इस तरह उगाई गई सब्जियाँ, जितना ज़्यादातर लोग सोचते हैं उससे कहीं अधिक मज़बूत होती हैं। अगर वे खरपतवार से पहले फूट आती हैं, तो फिर बाद में खरपतवार के नीचे दब जाने से भी बच जाती हैं। पालक और गाजर जैसी कुछ सब्ज़ियाँ भी हैं जो आसानी से नहीं फूटतीं। उनके बीजों को दो-एक दिन पानी में भिगोकर उन्हें मिट्टी की गोलियों में दबाने से इस समस्या से निपटा जा सकता है। अगर कुछ सघन रूप से बोई जाए तो जापानी मूली, शलगम व दूसरी पत्तेदार पतझड़ की सब्ज़ियाँ सर्दियों व बसंत की खरपतवार से भी सफलता से होड़ कर लेती हैं। उनमें से कई, क्योंकि, उखाड़ने से बच जाती हैं, वे साल-दर-साल खुद ही वापस उग आती हैं। उनकी महक अनूठी होती है और वे खाने में बड़ी स्वादिष्ट लगती हैं।

पहाड़ों पर तमाम किस्म की अपरिचित सब्ज़ियाँ देखना बड़ा विस्मयकारी है। जापानी मूली और शलजम आधी मिट्टी के अंदर और आधी बाहर उगती हैं। गाजर और कांटेदार बुर्डाक कई बार छोटे और मोटे होते हैं और उन पर ढेरों बालनुमा जड़ें रहती हैं, उनका तीखा, हलका कड़वा स्वाद मुझे आभास देता है कि यह उनके जंगली पूर्वजों के समान है। लहसुन, जापानी मोती प्याज, और चीनी लीक (प्याज की एक किस्म) एक बार बोने के बाद सालों-साल खुद-ब-खुद उगा करते हैं।

---

* सब्जियाँ उगाने की यह विधि श्री फुकुओका ने स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप प्रयोगों द्वारा विकसित की। वे जहाँ रहते हैं वहाँ बसन्त में बरसात होती है और मौसम इतना गर्म तो रहता ही है कि सभी मौसमों में सब्ज़ियाँ उगाई जा सकें। वे इतने सालों में समझ गए है कि कौन-सी सब्जियां किन खरपतवारों के साथ उगाई जा सकती हैं, और हर सब्ज़ी के लिए कौन-कौन सी सावधानियाँ बरतनी जरूरी है।

उत्तर अमरीका के अधिकाँश भाग में श्री फुकुओका के बताए तरीके का उपयोग कर सब्ज़ियाँ उगाना अव्यावहारिक होगा। जाहिर है कि वहाँ हर किसान को जो 'आधे जंगली' तरीके से सब्ज़ियाँ उगाना चाहता है, अपनी जमीन और वहां की प्राकृतिक वनस्पति के अनुरूप सब्ज़ियाँ उगाने की अपनी निजी विधि तलाशनी पड़ेगी।

दलहन बोने का सबसे अच्छा समय बसंत होता है। राजमा और लोबिया आसानी से उगाई जा सकती हैं और अच्छी उपज देती हैं। मटर, लाल अजुकी फली, सोयाबीन, पिन्टो बीन और राजमा में जल्दी अंकुरण ज़रूरी होता है । पर्याप्त बरसात न हो तो उन्हें फूटने में परेशानी होती है और चिड़ियों और कीड़ों का ध्यान भी रखना पड़ता है।

टमाटर और बैंगन के पौधे छोटी अवस्था में इतने मज़बूत नहीं होते कि खरपतवार से होड़ कर सकें, सो उन्हें पहले क्यारियों में उगाकर बाद में रोपना चाहिए। टमाटर के पौधों को ऊपर चढ़ाने के बदले ज़मीन पर फैलने देना चाहिए। मुख्य शाखा के गठानों से भी जड़ें निकल आती हैं। और तब नई शाखाएँ उगती हैं जिन पर फल लग आते हैं।

जहाँ तक खीरा-ककड़ी का सवाल है, धरती पर फैलने वाली किस्म ही सबसे अच्छी रहती है। उनके नन्हें पौधों की देखभाल आपको करनी होगी, कभी-कभार खरपतवार काटनी होगी, पर उनके बाद वे ताकतवर बन जाते हैं। बाँस या पेड़ों की टहनियाँ लगा देने पर उसके इर्द-गिर्द खीरे की बेल लिपट जाती है। ये टहनियाँ खीरों को धरती से कुछ ऊपर उठा देती हैं ताकि फल न सड़ें। खीरे उगाने की यह विधि तरबूज-खरबूज और स्क्वाश के लिए भी उपयुक्त है।

आलू और कचालू के बेहद मज़बूत पौधे होते हैं। एक बार बोने पर वे उसी जगह हर साल उग आते हैं और कभी भी कांस-घास जैसी खरपतवार से दबते नहीं। आप जब फसल निकालें तो बस कुछ कंद ज़मीन में ही दबे रहने दें। अगर ज़मीन ज्यादा कठोर हो तो पहले जापानी शलगम उगाएँ। उनकी जड़ें बढ़ कर मिट्टी को मुलायम बना देती हैं और कुछ मौसमों के बाद वहीं पर आलू की खेती की जा सकती है।

मैंने पाया है कि सफेद तिपतिया खरपतवार को भी रोकती है। वह घनी-घनी उगती है तथा कांस-घास जैसी मज़बूत खरपतवार को भी बढ़ने नहीं देती। अगर तिपतिया को सब्ज़ियों के बीजों के साथ मिला कर बोया जाए तो वह जीवित ढकावन का काम करती है, मिट्टी को पोषण देती है और मिट्टी को नम और हवादार बनाती है।

सब्ज़ियों की तरह ही तिपतिया को बोने का सही समय चुनना भी महत्वपूर्ण होता है। उसे गर्मियों में देर से या फिर पतझड़ में बोना सबसे सही रहता है, उसकी जड़ें सर्दी के महीनों में बढ़ जाती हैं और यों बसंत में उगने वाली घास से तिपतिया कुछ आगे बढ़ जाती है। बसंत की शुरुआत में बोने पर भी तिपतिया अच्छी तरह उग पाती है। उसे या तो बिखेर दिया जाना चाहिए या करीब बारह इंच दूरी की कतारों में भी बोया जा सकता है। एक बार तिपतिया जब उग जाए तो अगले पाँच-छह साल तक उसे फिर से बोने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

इस अर्ध जंगली तरीके से सब्ज़ियाँ उगाने का मुख्य उद्देश्य है फसल को उस ज़मीन पर यथासंभव कुदरती रूप से उगाना, जो अन्यथा खाली पड़ी रहती। अगर आप उन्नत तकनीकों से अधिक फसल लेने की चेष्टा करेंगे तो असफल रहेंगे। अधिकतर मामलों में यह असफलता कीड़ों या बीमारियों के कारण होगी। अगर विभिन्न तरह की जड़ी-बूटियाँ और सब्ज़ियाँ शामिल कर प्राकृतिक वनस्पतियों के

बीच उगाई जाती हैं तो कीड़ों और रोगों का खतरा कम हो जाता है और किसी तरह के छिड़काव की या कीड़ों को हाथों से चुन कर हटाने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

जिस भी स्थान पर अलग-अलग तरह की खूब खरपतवार उगी हो, वहाँ आप सब्ज़ियाँ उगा सकते हैं। हाँ, यह ज़रूरी होगा कि आप खरपतवार और घास के वार्षिक चक्र से वाकिफ हों। उस इलाके में उगने वाली खरपतवार की किस्में और उसके आकार से आप यह समझ सकेंगे कि वहाँ की मिट्टी कैसी है और उसमें किसी तरह की कमी है या नहीं।

मेरे फल-बागान में, मैं बुर्डाक, पत्तागोभी, टमाटर, गाजर, सरसों, सेम की फलियाँ, शलगम और कई तरह की जड़ी-बूटियाँ और सब्ज़ियाँ इसी आधी जंगली विधि से ही उगाता हूँ।

रसायनों को त्यागने की शर्तें

आज जापान में धान की खेती एक महत्वपूर्ण दोराहे पर खड़ी है। किसान और विशेषज्ञ समझ नहीं पा रहे कि वे कौन-सी राह पकड़ें। धान के पौधों को क्यारियों में उगा कर तब उन्हें खेतों में रोपें या बीजों को सीधे बिखेरें? और अगर दूसरा रास्ता चुनें तो वे खेतों को जोतें या नहीं जोतने का तरीका अपनाएँ? मैं पिछले बीस साल से कहता रहा हूँ कि बिना जोते, बीजों को सीधे बोने का तरीका ही अंततः सबसे सही सिद्ध होगा। जिस रफ्तार से प्रत्यक्ष बीजने का तरीका ओकायामा क्षेत्र में फैल रहा है, वह आँखें खोलने वाला है।

फिर भी तमाम ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि देश की खाद्यान्न आपूर्ति के लिए गैर-रासायनिक कृषि को अपनाना कल्पना से परे है। उनका कहना है कि धान के तीन बड़े रोगों – डण्डियों का गलना, मुरझाना (ब्लास्ट रोग), और पत्तों को नष्ट करने वाले जीवाणु – इन सब के नियंत्रण के लिए रासायनिक उपचार तो करना ही होगा। परन्तु अगर किसान तथाकथित 'उन्नत' किस्मों के कमज़ोर बीजों का इस्तेमाल बंद कर दें, मिट्टी में ज़रूरत से ज़्यादा नाइट्रोजन मिलाना बंद कर दें, और सिंचाई में पानी की मात्रा कम करे, तो धान के पौधों की जड़ें मज़बूत होंगी और ये रोग भी लगभग गायब हो जाएँगे। ज़ाहिर है कि ऐसे में रसायनों का छिड़काव भी गैर-ज़रूरी बन जाएगा।

शुरुआत में मेरे खेतों की लाल चिकनी मिट्टी भी कमज़ोर थी और धान उगाने के लिए अनुपयुक्त थी। मेरी फसल को अकसर भूरे चकत्तों का रोग हो जाता था। परन्तु धीरे-धीरे खेत उपजाऊ होने लगे और भूरे चकत्तों का रोग भी कम होता चला। हाल में मेरे खेतों में ऐसे हमले हुए ही नहीं है।

कीटों के हमलों में भी ठीक यही स्थिति रही है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राकृतिक परभक्षियों को न मारा जाए। खेतों में लगातार पानी भरा रखना या ठहरे या दूषित पानी से सींचना भी कीटों की समस्या पैदा करता है। सबसे परेशान करने वाले कीट, गर्मियों एवं पतझड़ के मौसम में पनपने वाले पत्तों के टिड्डों तक को खेतों में पानी न भरा रखने मात्र से नियंत्रित किया जा सकता है।

हरे घास पत्तों के टिड्डे जो सर्दियों में खरपतवार में जीते हैं, वे वायरस-वाहक बन सकते हैं। अगर ऐसा होता है तो अकसर दस से बीस प्रतिशत पौधे घुन लगने के रोग से मर जाते हैं। अगर रसायनों का छिड़काव न हो तो खेतों में कई मकड़ियाँ मौजूद रहती हैं और तब कीटों के सफ़ाए का

काम उन पर छोड़ा जा सकता है। मकड़ियाँ इंसानी हस्तक्षेप के बारे में बेहद संवेदनशील होती हैं, अतः इस बात का ध्यान रखना पड़ता है।

ज़्यादातार लोग सोचते हैं कि अगर रासायनिक खाद और कीटनाशकों का इस्तेमाल बंद कर दिया जाएगा तो कृषि उत्पादन मौजूदा स्तर का एक अंश-भर रह जाएगा। कीट नुकसान के विशेषज्ञों का अंदाज़ा है कि कीटनाशक बंद करने पर पहले वर्ष करीब पाँच प्रतिशत फसल घटेगी। और अगर रासायनिक खाद भी बंद कर दी जाए तो उत्पादन पाँच प्रतिशत और घटेगा, और वे गलत अनुमान भी नहीं लगा रहे होंगे।

अगर धान के खेतों में पानी की मात्रा कम की जाए और कृषक को-ओपरेटिव द्वारा जो रासायनिक खाद और कीटनाशकों का छिड़काव प्रोत्साहित किया जाता है, उसे बंद कर दिया जाए तब पहले साल में औसत कमी तकरीबन दस प्रतिशत की होगी। परन्तु प्रकृति की स्वस्थ होने की क्षमता कल्पनातीत है। मेरा मानना है कि इस शुरुआती कमी के बाद फसल में बढ़ोत्तरी होगी, और अंततः वह, पहले जो फसल मिल पाती थी उससे, कहीं ज़्यादा ही होगी।

जिस समय मैं कोची परीक्षण केंद्र में था, मैं डण्डियों को खोखला करने वाले कीटों की रोकथाम के लिए शोध कर रहा था। ये कीट धान के पौधों की डण्डियों में घुसते हैं और उन्हें अंदर से खा डालते हैं, इससे पूरा डंठल सफेद पड़ मुरझा जाता है। नुकसान का अंदाज लगाने का तरीका भी आसान है; आप यह गिनते हैं कि धान के कितने डंठल हैं। पता चलता है कि सौ में लगभग दस या बीस डंठल सफेद पड़ चुके हैं। जब यह बीमारी गंभीर होती है और लगता है कि समूची फसल ही बरबाद हो गई है। परन्तु उस वक्त भी वास्तविक नुकसान करीब तीस प्रतिशत ही होता है।

इस नुकसान से बचने के लिए धान के एक खेत में कीटनाशक छिड़का गया ताकि तनाछेदक कीट मर जाएं, एक दूसरे खेत को ऐसे ही छोड़ दिया गया। जब नतीजों का आकलन किया गया तो पाया यह गया कि जिस खेत का उपचार नहीं किया गया था उसकी उपज अधिक थी। पहले मुझे विश्वास ही नहीं हुआ और मैंने सोचा कि प्रयोग में ही कोई गड़बड़ हुई है, पर आँकड़े तो सही लग रहे थे, सो मैंने और तहकीकात की।

हुआ दरअसल यह था कि कमज़ोर पौधों पर हमला बोल तनाछेदक कीटों ने उन्हें पतला बना डाला था। कुछ डंठलों के मुरझाने से शेष पौधों को ज्यादा जगह मिली। इससे निचली पत्तियों तक भी सूरज की किरणें पहुँच सकीं। बचे हुए पौधे अधिक मज़बूती से बढ़ पाए और उनसे धान की बालियों वाले अधिक कल्ले फटे और उपज भी बढ़ी। जब पौधे की डंठलें बड़ी गझिन और अधिक होती हैं तो कीट उस अधिकता को छांट नहीं पाते। इससे पौधे तो बड़े स्वस्थ लगते हैं, पर कई बार फसल दरअसल कम हो पाती है।

कई शोध परीक्षण केंद्रों की रिपोर्टों को भी देखें तो आपको लगभग सभी रासायनिक छिड़कावों के नतीजें मिलेंगे। पर हमें सामान्यतः यह पता नहीं होता कि इनमें से केवल आधे नतीजों को ही रिपोर्ट किया जाता है। ऐसा नहीं है कि शोधकर्ता कुछ तथ्य छिपाना चाहता है, परन्तु जब रसायन बनाने वाली कम्पनियाँ इन नतीजों को विज्ञापनों की तरह छापती हैं तो वे प्रतिकूल सूचनाओं को दबा देती हैं, यह

भी सच्चाई छुपाने जैसा ही होता है। जो नतीजे कम उत्पादन दिखाते हैं, जैसे तना छेदक कीट वाले प्रयोग में हुआ था, उन्हें प्रयोग संबंधी कमी कह कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया जाता है। ऐसे भी उदाहरण होते हैं जिनमें कीटों को नष्ट करने के प्रयोग के फलस्वरूप फसल बढ़ती है, पर साथ ही ऐसे भी दृष्टान्त होते हैं जिनमें फसल घटती है। पर फसल घटने के नतीजे रिपोर्टों में बिरले ही छापे जाते हैं।

कृषि रसायनों में पौधनाशक रसायन ऐसे हैं जिनका इस्तेमाल करने से किसानों को रोकना सबसे कठिन है। प्राचीनकाल से ही किसान एक प्रकार से 'खरपतवार के विरुद्ध जंग' में जुटे रहे हैं। जुताई, कतारों के बीच गुड़ाई और धान के पौधों को अलग से तैयार कर खेतों में रोपना – इन सभी का मुख्य उद्देश्य खरपतवार को खत्म करना ही है। खरपतवार नाशकों के ईजाद होने के पहले किसान को हरेक मौसम में पानी से भरे खेतों में मीलों चलना, खरपतवार उखाड़ने के औजारों को घसीटना, और हाथों से खरपतवार को उखाड़ना पड़ता था। सो यह समझना आसान है कि किसानों को ये रसायन ईश्वर की देन क्यों लगे होंगे। पुआल बिछाने, तिपतिया उगाने और खेतों में अस्थाई रूप से पानी भरने में मुझे खरपतवार पर नियंत्रण का वह आसान तरीका मिला है जिसमें न खरपतवार उखाड़ने का कठोर श्रम करना पड़ता है, न किसी तरह के रसायन का उपयोग।

फल-बागान में मिट्टी की कुटिया

वैज्ञानिक विधि की सीमाएँ

इससे पहले कि शोध करने वाले शोधकर्ता बनें, उन्हें दार्शनिक बनना चाहिए। उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए कि मानव का लक्ष्य क्या है, इन्सानियत को दरअसल रचना किसकी करनी चाहिए। चिकित्सकों को पहले बुनियादी स्तर पर यह तय कर लेना चाहिए कि जीवन के लिए इंसान किस पर निर्भर है।

अपने सिद्धान्तों को खेतीबारी पर लागू करने के दौरान मैं अपनी फसलों को कई तरह से बोने का प्रयास करता रहा हूँ, हमेशा इसी ख्याल से कि एक ऐसी विधि विकसित कर सकूँ जो प्रकृति के सबसे करीब हो। बहुत से अनावश्यक कृषि-अभ्यासों को त्याग कर में ऐसा कर पाया हूँ।

इसके विपरीत आधुनिक वैज्ञानिक कृषि के पास ऐसी कोई दृष्टि है ही नहीं। शोध दिशाहीन-सी इधर-उधर भटकती है, हरेक शोधकर्ता फसल की उपज को प्रभावित करने वाले असंख्य प्राकृतिक घटकों में किसी एक को ही देखता है। सच यह भी है कि ये प्राकृतिक घटक एक से दूसरे स्थान व एक से दूसरे वर्ष बदलते भी हैं।

भले ही कोई किसान ठीक उसी चौथाई एकड़ पर खेती करता रहा हो, फिर भी उसे हर साल, मौसम के बदलावों, कीटों की आबादी, मिट्टी की स्थिति, व तमाम दूसरे घटकों के हिसाब से फसल उगाने की रीति बदलनी पड़ती है। प्रकृति तो चहुँओर सतत् गतिशील रहती है; किन्हीं भी दो वर्षों की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं रहती।

आधुनिक शोध प्रकृति को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर परीक्षण करती है, जो न तो प्राकृतिक नियम के अनुरूप होता है, न व्यावहारिक अनुभव के। शोध के नतीजे शोध की सुविधा के अनुसार व्यवस्थित किए जाते हैं, न कि किसान की आवश्यकता के हिसाब से। यह सोचना कि शोध के ये निष्कर्ष किसान के खेत में भी हमेशा वैसी ही सफलता देंगे, बड़ी भारी गलती होगी।

हाल में इहिमे विश्वविद्यालय के प्रोफेसर त्सुनो ने धान की फसल और पौध रचनान्तर क्रिया (मेटाबोलिज्म़) के पारस्परिक संबंध पर एक लंबी-चौड़ी किताब लिखी है। प्रोफेसर साहब अक्सर मेरे खेत में आते हैं, कुछ फीट खुदाई कर मिट्टी को जाँचते हैं, अपने साथ विद्यार्थियों को लाते हैं जो सूरज की किरणों के कोण, छाया और न जाने क्या-क्या नापते हैं, और वे प्रयोगशाला में परीक्षण के लिए पौधों के नमूने भी ले जाते हैं। मैं उनसे अक्सर पूछता हूँ, 'आप जब लौटेंगे तो क्या आप बिना

जुताई के प्रत्यक्ष बीज बोने के तरीके को आजमाएँगे?' वे हँस कर जवाब देते हैं, 'ना, मैं इस्तेमाल करने का काम आप पर छोड़ रहा हूँ। मैं तो सिर्फ शोध ही करूँगा।'

तो यह ऐसी बात है। आप पौधों की रचनान्तर क्रिया का और भूमि से पोषण सोखने की उसकी क्षमता का अध्ययन करते हैं, किताब लिखते हैं, कृषि विज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि लेते हैं। पर यह नहीं पूछते कि पोषक तत्वों को आत्मसात करने का आपका सिद्धान्त उत्पादन के लिए सार्थक होगा भी या नहीं?

अगर आप यह समझा भी सकें कि अगर औसत तापमान 84 डिग्री (फैरनहाइट) हो तो चय-रचनान्तर क्रिया किस प्रकार ऊपरी पत्तियों की उत्पादकता को प्रभावित करती है, तो भी ऐसे भी स्थान होंगे जहाँ तापमान 84 डिग्री न हो। और अगर ईहिमे में इस साल तापमान 84 डिग्री हो, तो संभव है कि अगले साल वह केवल 75 डिग्री ही रहे। यह कहना कि अगर रचनान्तर क्रिया बढ़ा दी जाए तो मांड निर्माण भी बढ़ेगा ओर ज्यादा फसल होगी, भूल है। उस स्थान का भूगोल और भौगोलिक स्थिति, वहाँ की मिट्टी की स्थिति, उसका ढाँचा, बनावट, धूप की मात्रा, कीटों का रिश्ता, काम में लिए गए बीज का किस्म, खेती का तरीका – यानी सच में असंख्य प्रकार के घटकों पर मनन करना होगा। ऐसा वैज्ञानिक परीक्षण, जो इन सभी प्रासंगिक घटको को ध्यान में रखता हो, असंभव ही है।

आजकल 'अच्छे चावल आंदोलन' और 'हरित क्रान्ति' के फायदों की आपने खूब चर्चा सुनी होगी। क्योंकि इन विधियों में कमज़ोर 'उन्नत' किस्म के बीज काम में लिए जाते हैं, किसान के लिए आठ या दस गुना अधिक रसायनों व कीटनाशकों का उपयोग भी ज़रूरी बन जाता है। कुछ ही समय में धरती पर से हर तरह के सूक्ष्म जीवाणु और जैविक पदार्थ पूरी तरह जल कर राख हो जाते हैं। माटी का जीवन नष्ट हो जाता है और फसलें बाहर से डाली गई रासायनिक खादों के रूप में छिड़के गए पोषक तत्वों पर निर्भर हो जाती हैं।

ऐसा लगता है कि जब किसान 'वैज्ञानिक' तकनीकें काम में लेता है तो काम बेहतर होता है, पर इसका मतलब यह तो नहीं कि विज्ञान को इसलिए हमें बचाने आना होगा क्योंकि मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरकता स्वत: ही अपर्याप्त है। मतलब दरअसल यह है कि बचाव इसलिए ज़रूरी बन गया है क्योंकि धरती का कुदरती उपजाऊपन नष्ट कर दिया गया है।

पुआल बिछा, तिपतिया उगा और सभी बचे हुए जैविक पदार्थों को धरती को लौटाने से भूमि में वे तमाम पोषक तत्व आ जाते हैं जो साल-दर-साल एक ही खेत में धान और सर्दियों के अनाज उगाने के लिए आवश्यक हैं। प्राकृतिक विधि से खेती करने पर उन खेतों का पुनर्वास हो सकता है जो कृषि से या कृषि-रसायनों से नष्ट हो चुके हों।

III

एक किसान ने बोलने की हिम्मत की

आजकल जापान में बिगड़ते जा रहे पर्यावरण और उस कारण दूषित खाद्यान्न को लेकर सरोकार बढ़ा है, जो सही भी है। जनता राजनीतिक व औद्योगिक नेताओं की उदासीनता के विरोध में बहिष्कार और बड़े प्रदर्शन आयोजित कर रही है। परन्तु अगर ये गतिविधियाँ मौजूदा मानसिकता से ही प्रेरित हो की जाती रहीं तो विफल ही सिद्ध होंगी। प्रदूषण के कुछ विशेष मामलों को दुरुस्त करने की बात करना कुछ ऐसा है मानो किसी रोग के लक्षणों का उपचार किया जाए, जबकि रोग का मूल कारण बढ़ता रहे।

उदाहरण के लिए दो साल पहले कृषि प्रबंधन शोध केंद्र ने जैविक कृषि परिषद् तथा नादा सहकारी समिति के साथ मिलकर प्रदूषण पर चर्चा करने के लिए एक सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन के सभापति थे श्री तेंओ इचिराकू, जो जापानी जैविक किसान संघ के अध्यक्ष हैं और सरकारी कृषि सहकारिता के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति भी। कौन-सी फसल उगाई जाए, बीज की कौन-सी किस्में काम में ली जाए, कितनी खाद डाली जाए, कौन-से रसायन इस्तेमाल हों, संबंधी इस संस्था के सुझाव जापान के सभी ग्रामीण किसान मानते हैं।

क्योंकि इतने तरह-तरह के और प्रभावशाली लोग इसमें भाग ले रहे थे, मैं भी इस आशा से शामिल हुआ कि कुछ दूरगामी कदमों पर निर्णय लिया जाएगा और उन्हें अमल में लाया जाएगा। खाद्यान्न में प्रदूषण की बात को सार्वजनिक करने की दृष्टि से यह सम्मेलन सफल रहा, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु दूसरी ही बैठकों की तरह यहाँ भी चर्चा शोध विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत की गई बेहद तकनीकी रिपोर्टों की प्रस्तुति और खाद्य प्रदूषण के भयावह व्यक्तिगत वृत्तान्तों पर उतर आई। कोई भी वक्ता समस्या को उसके बुनियादी स्तर पर संबोधित करने को तैयार न था।

उदाहरण के लिए ट्यूना मछली के पारे से विषाक्त होने की चर्चा में, मत्स्य ब्यूरो के प्रतिनिधि ने पहले यह बताया कि समस्या वास्तव में कितनी भयावह बन चुकी है। उस वक्त पारे प्रदूषण की रेडियो व समाचार-पत्रों में हर दिन चर्चा होती थी, सो सबने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी।

वक्ता ने कहा कि ट्यूना के शरीर में, चाहे वह उत्तरी ध्रुव के पास दक्षिणी ध्रुव सागर से ही क्यों न पकड़ी गई हो, पारे की मात्रा बेहद ज़्यादा है। परन्तु जब कई सौ वर्ष पहले पकड़ी गई ट्यूना मछली के प्रयोगशाला में रखे एक नमूने को काट कर जाँचा गया तो उम्मीद के विपरीत उसमें भी पारा पाया

गया। इससे उनका परीक्षात्मक निष्कर्ष यह सुझाता लगा कि इस मछली को जीने के लिए पारा खाना पड़ता होगा।

उपस्थित श्रोता अविश्वास से एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। बैठक का उद्देश्य तो यह था कि पहले दूषित पर्यावरण के प्रदूषण से कैसे निपटना है, उसे सुधारने के कौन-से उपाय करने हैं। इसके बदले मछली ब्यूरो के प्रतिनिधि कह रहे थे कि ट्यूना मछली के बचे रहने के लिए पारा ज़रूरी है। जब मैं कहता हूँ कि लोग प्रदूषण के मूल कारण को समझने के बदले उसे संकरी व सतही नज़र से देखते हैं, तो ठीक यही मेरा मतलब होता है।

मैं खड़ा हुआ और मैंने सुझाया कि हम वहीं, उसी वक्त, एक साझा कार्यक्रम बनाएँ, प्रदूषण से निपटने के लिए एक ठोस योजना बनाएँ। क्या बेहतर न हो कि हम सीधे-सीधे रसायनों के उपयोग बंद करने की बात करें, जो प्रदूषण फैला रहे हैं? उदाहरण के लिए चावल बिना रसायनों के उगाया जा सकता है इसी तरह नींबू प्रजाति के फल भी, उनके बिना सब्ज़ियाँ उगाना भी कठिन नहीं है। मैंने कहा कि ऐसा किया जा सकता है, और मैं अपने खेत पर सालों से ऐसा कर रहा हूँ, पर जब तक सरकार रसायनों के इस्तेमाल को समर्थन देती रहेगी, कोई भी स्वच्छ खेती करने की कोशिश नहीं करेगा।

मछली ब्यूरो के सदस्य बैठक में मौजूद थे, साथ थे कृषि मंत्रालय, वानिकी व कृषि सहकारिता के सदस्य भी। अगर वे सब और सम्मेलन के सभापति श्री ईचिराकू सच में कुछ करना चाहते, और यह सुझाते कि देश-भर के किसान बिना रसायनों के धान उगाने की कोशिश करें, तो सच में एक भारी बदलाव लाया जा सकता था।

पर एक बड़ी भारी समस्या थी, अगर फ़सलें बिना कृषि रसायनों, खाद या मशीनरी के उगाई जाने लगतीं तो विशाल रासायनिक कम्पनियाँ बेकार हो जातीं और सरकारी कृषि सहकारिता एजेन्सी ठप्प हो जाती। यह मामला सबके सामने रखने के लिए मैंने कहा कि सहकारिता एजेन्सी और आधुनिक कृषि नीति-निर्माता अपनी सत्ता के लिए खाद और कृषि मशीनरी के पूँजी निवेश पर निर्भर करते हैं। मशीनरी और रसायनों को हटा देने का मतलब होगा आर्थिक और सामाजिक ढाँचों में पूर्ण बदलाव लाना। इसलिए मुझे ऐसी कोई सूरत नज़र न आती थी कि श्री ईचिराकू, सहकारी समितियाँ या सरकारी अधिकारी प्रदूषण से निपटने के उपायों के पक्ष में बोलें।

जब मैं इस तरह बोल उठा तो सभापति महोदय ने कहा, 'श्री फुकुओका, आप अपनी टिप्पणियों से सम्मेलन को अस्तव्यस्त कर रहे हैं।' यों उन्होंने मेरा मुँह बंद करवा दिया। यही हुआ।

एक कठिन समस्या का सीधा-सादा समाधान

लगता यह है कि प्रदूषण को रोकने का सरकारी एजेन्सियों का कोई इरादा नहीं है। दूसरी समस्या यह है कि खाद्य वस्तुओं में प्रदूषण की समस्या के सभी पक्षों को शामिल कर उनका एक साथ ही समाधान करना ज़रूरी है। सो यह उन लोगों द्वारा तो सुलाझाई ही नहीं जा सकती जो उसके एक या दूसरे पक्ष मात्र से सरोकार रखते हों।

जब तक सभी लोगों की चेतना में आमूल-चूल बदलाव नहीं आता, प्रदूषण थमेगा ही नहीं।

उदाहरण के लिए किसान यह सोचता है कि इनलैण्ड सी (अन्तर्देशीय सागर)* उनका सरोकार नहीं है। वह सोचता है कि यह काम मछली ब्यूरो के इनलैण्ड सी अधिकारियों का है, जिनका काम मछली की देखभाल है, और पर्यावरण परिषद् का है, जिसे समुद्र के प्रदूषण की चिंता करनी है। इसी सोच में ही समस्या की जड़ है।

सबसे अधिक काम में ली जाने वाली रासायनिक खादें, जैसे अमोनियम सल्फेट, यूरिया और सुपर फॉस्फेट आदि भारी मात्रा में इस्तेमाल की जाती हैं। खेतों के पेड़-पौधे इसका एक छोटा-सा हिस्सा सोखते हैं। बाकी सारा रसायन रिस-रिस कर नालों और नदियों में मिलता है, जो अंततः समुद्र में जा मिलते हैं। समुद्री काई व घास तथा जीव बड़ी मात्रा में द्विगुणित होने वाले नाइट्रोजन के इन यौगिकों को सोख लेते हैं। इससे लगता है मानों सुर्ख ज्वार उठ रहा हो। पारे का औद्योगिक अपशिष्ट व दूसरे विषैले पदार्थ भी प्रदूषण में अपना योगदान देते हैं, परन्तु जापान में जल-प्रदूषण का अधिकाँश हिस्सा कृषि-रसायनों का ही होता है।

अत: इस लाल ज्वर की जिम्मेदारी किसान को ही स्वीकारनी होगी। किसान, जो अपने खेतों में प्रदूषण फैलाने वाले रसायनों को छिड़कता है, वे निगम, जो इन रसायनों का उत्पादन करते हैं, वे ग्राम-अधिकारी, जो रसायनों के उपयोग को सुविधाजनक मान उनके लिए तकनीकी मार्ग-दर्शन उपलब्ध करवाते हैं – अगर ये सभी लोग समस्या पर गहन सोच-विचार नहीं करते, तो जल-प्रदूषण का सवाल कभी सुलझ ही नहीं सकेगा।

आज स्थिति यह है कि केवल वे लोग ही, जो प्रदूषण की समस्या से सीधे प्रभावित हों, उससे जूझने में सक्रिय हैं, जैसे स्थानीय मछुआरों का बड़ी तेल-कम्पनियों के विरुद्ध संघर्ष, जो मिज़ूशीमा

* होंशु, क्युशु तथा शिकोकु द्वीपों के बीच का छोटा सा समुद्री क्षेत्र

में तेल फैलने के बाद हुआ। या फिर कोई प्रोफेसर समस्या से निपटने के लिए शिकोकू द्वीप के बीच से एक खाई निकालने का प्रस्ताव रखता है, ताकि प्रशान्त महासागर का तुलनात्मक रूप से साफ पानी इनलैण्ड समुद्र में बह आए। ऐसे समाधानों पर शोध की जाती है और बार-बार उन्हें लागू करने की कोशिश की जाती है, पर वास्तविक समाधान तो इस तरह कभी मिल ही नहीं सकता।

सच्चाई यह है कि हम चाहे जो भी करें परिस्थिति बद से बदतर ही होती जाती है। जितने अधिक विस्तृत उपाय किए जाते हैं, समस्याएँ उतनी ही पेचीदा बनती जाती हैं।

मान लीजिए शिकोकू द्वीप पर इस पार से उस पार तक पाइप बिछा ही दिया जाता और प्रशान्त महासागर का पानी इनलैण्ड समुद्र में पम्प द्वारा छोड़ा जाता है। मान लीजिए कि इस तरह इनलैण्ड समुद्र को साफ़ करना सम्भव है। ऐसे में वह बिजली कहाँ से आएगी जिससे वे फैक्ट्रियाँ चलेंगी, जो स्टील पाइप बनाएँगी और पानी को लाने के लिए ऊर्जा संयंत्र ज़रूरी होगा। ऐसा संयंत्र बनाने के लिए काँक्रीट और दूसरी सामग्री जुटानी होगी, और एक परमाणु विद्युत केंद्र भी बनाना होगा। जब समाधान इस तरह से विकसित होते हैं तो वे दूसरी व तीसरी पीढ़ी की प्रदूषण समस्याओं के बीज बोते हैं, जो पिछली समस्याओं से कहीं ज़्यादा कठिन और कहीं अधिक व्यापक होते हैं।

यह मामला कुछ वैसा ही है जैसे कोई लालची किसान धान के पौधे की सिंचाई के लिए पानी की मोरी को चौड़ी कर दे और पानी को हरहरा कर खेत में आने दे। इससे खेत की बाड़ तड़ककर ढह जाए। ऐसे में मरम्मत की ज़रूरत होगी। सो खेत की बाड़ को मज़बूत बनाना होगा और सिंचाई का नाला बड़ा करना होगा। पानी की मात्रा बढ़ते ही संभावित खतरा भी बढ़ेगा, अगली बार जब बाड़ कमज़ोर होगी तो मरम्मत करने का काम भी पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ जाएगा।

जब समस्या के लक्षणों से निपटने का निर्णय लिया जाता है तो आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि उपचारात्मक उपाय समस्या को ही सुलझा देगा। पर ऐसा बिरले ही होता है। इंजीनियरों के भेजे में यह बात घुसती ही नहीं। ये रक्षात्मक उपाय वास्तविक गड़बड़ की संकरी परिभाषा पर टिके होते है। इंसान के उपाय व प्रत्युपाय, सीमित वैज्ञानिक सत्य व विवेक से निकले होते हैं। वास्तविक समाधान कभी भी इस तरीके से मिल नहीं पाता।*

मेरे विनम्र समाधान, जैसे पुआल बिछाना, तिपतिया उगाना प्रदूषण नहीं फैलाते । वे इसलिए प्रभावी हैं क्योंकि वे समस्या की जड़ को ही काटते हैं। जब तक विशाल तकनीकी समाधानों पर से आधुनिक आस्था डिगती नहीं, प्रदूषण बदतर ही होता जाएगा।

* "सीमित वैज्ञानिक सत्य और विवेक" से श्री फुकुओका का तात्पर्य उस दुनिया से है जिसे मानव मस्तिष्क देखता और निर्मित करता है। श्री फुकुओका इस दृष्टि को उसकी ही मान्यताओं से परिभाषित रूपरेखा तक सीमित मानते हैं।

दुरावस्था का फल

आमतौर पर उपभोक्ता मानते हैं कि कृषि प्रदूषण से उनका कोई लेना-देना नहीं है। उनमें से कई ऐसे खाद्य पदार्थों की माँग भी करते हैं जिनका रासायनिक उपचार न हुआ हो। पर रासायनिक उपचार वाली खाद्य सामग्री मुख्यत: उपभोक्ता की पसंद के कारण ही बाज़ार में उपलब्ध करवाई जाती है। उपभोक्ता बड़े-बड़े चमकदार, दाग-धब्बों के बिना, सुडौल आकार के फल-सब्जी चाहते हैं। इन इच्छाओं को पूरा करने के लिए ही ऐसे कृषि रसायनों का उपयोग होने लगा है, जो पाँच-छह वर्ष पहले तक काम में नहीं लिए जाते थे।

हम ऐसी उलझन में कैसे फंसे? लोग कहते हैं कि उन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि खीरा सीधा है या मुड़ा-तुड़ा, और ज़रूरी नहीं कि फल बाहर से भी खूबसूरत दिखाई दे। पर अगर यह देखना हो कि कीमतें उपभोक्ता की प्रतिक्रिया से कैसे जुड़ी होती हैं, तो किसी दिन टोक्यो के थोक फल-सब्जी बाज़ार में जाइए। फल दिखने में ज़रा भी बेहतर हो तो आपको प्रति पाउण्ड पाँच या दस सेण्ट ज़्यादा कीमत पर मिलेंगे। जब फलों को 'छोटा', 'मध्यम' या 'बड़ा' की श्रेणी में डाला जाता है तो उसकी प्रति पाउण्ड कीमत आकार में बढ़ोतरी के साथ दुगुनी या तिगुनी तक बढ़ जाती है।

बेमौसम उगाई गई खाने की चीज़ों के लिए उपभोक्ता की ऊँची कीमत देने की तैयारी ने भी रसायनों के सहारे कृत्रिम कृषि को बढ़ावा दिया है। पिछले साल उन्शू के मैन्डारिन सन्तरे, जो गर्मियों के लिए* गर्मघर (हॉट हाउस) में उगाए गए थे, वे मौसमी सन्तरों की तुलना में दस या बीस गुने महँगे बिके। सामान्यत: मौसम में उनकी कीमत 10 या 15 सेन्ट प्रति पाउण्ड रहती है, परन्तु गर्मियों में 80 सेन्ट, 1 डॉलर या 1.75 डॉलर तक अदा की गई। मतलब यह हुआ कि अगर आपके पास साज़ो-सामान में निवेश के और आवश्यक ईंधन के लिए, हज़ारों डॉलर हैं, और आप कई घण्टों की फालतू मेहनत कर सकते हैं, तो मुनाफा कमाया जा सकता है।

बेमौसमी खेती दिनों-दिन लोकप्रिय होती जा रही है। मैन्डारिन सन्तरों को एक महीने जल्दी पाने के लिए शहर के बाशिन्दे किसानों को श्रम और उपकरणों के लिए अतिरिक्त पैसा देने को तैयार हैं। पर अगर आप पूछें कि मौसम से एक महीने पहले कोई फल खाना इंसान के लिए कितना ज़रूरी है, तो सच्चा जवाब तो यह है कि ऐसा करना कतई गैरज़रूरी है। और इस तरह के भोग की कीमत केवल रुपयों में नहीं चुकाई जाती।

* ये सन्तरे प्राकृतिक रूप से पतझड़ के अंत में तैयार होते हैं।

एक रंग, जो कुछ साल पहले काम में नहीं लिया जाता था, अब काम में लिया जाता है। इस रसायन से फल का रंग सप्ताह-भर पहले निखार पर आ जाता है। फल 10 अक्टूबर से सप्ताह-भर पहले बिक रहा है या सप्ताह-भर बाद, इसी से उसकी कीमत दुगुनी या आधी हो जाती है। अत: किसान यह जल्दी रंग निखारने वाला रसायन काम में लेता है और फल तोड़ने पर उन्हें गैस से भरे कमरे में पकाता है।

पर जो फल जल्दी पका कर भेजे जाते हैं, वे मीठे नहीं होते, सो कृत्रिक मिठास की व्यवस्था की जाती है। आमतौर पर सोचा यह जाता है कि कृत्रिम मिठास पर पाबंदी लगा दी गई है। पर सन्तरों आदि को कृत्रिम रूप से मीठा करने वाले रसायनों की बिक्री पर अलग से मनाही नहीं है। बुनियादी सवाल तो यह है कि यह रसायन 'कृषि रसायनों' की श्रेणी में आता है अथवा नहीं। बहरहाल, फिलहाल लगभग सभी किसान इसका उपयोग करते हैं।

इसके बाद फल सहकारी फल छंटाई केंद्र में लाए जाते हैं। उन्हें छोटे-बड़े आकारों में छांटने के लिए उन्हें कई सौ गज़ लंबी सरकने वाली पट्टियों (कन्वेयर बेल्ट) पर लुढ़काया जाता है। इससे वे अकसर चोट खाते हैं। जितना बड़ा छंटाई केन्द्र होता है, फल उतनी ही लंबी दूरी तक लुढ़काया जाता है। पानी से धोने के बाद सन्तरों पर परिरक्षक (प्रिजर्वेटिव) और रंग लगाया जाता है। अंत में प्रक्रिया पूरी करने के लिए उन पर मोम का पतला घोल लगा कर उसे चमका दिया जाता है। यकीन करें फल सच में इस चक्र से गुज़रते हैं।

पेड़ों से फल उतारने और दुकानों में सजाए जाने के लिए भेजने के बीच फलों पर पाँच या छह रसायन लगाए जाते हैं इसमें वे रासायनिक खाद व छिड़काव शामिल नहीं हैं जो उनको उगाने के लिए बागानों में काम में लिए जाते हैं। और यह सब सिर्फ इसलिए, क्योंकि उपभोक्ता ज्यादा आकर्षक दिखने वाले फल खरीदना चाहता है। उनकी इस पसंदगी ने किसानों के सामने भारी दुविधा खड़ी की है।

ये तमाम उपाय इसलिए नहीं किए जाते क्योंकि किसान ऐसा करना चाहता है, या कृषि मंत्रालय के अधिकारी किसानों से ज्यादा मेहनत करवाना पसंद करते हैं। जब तक मूल्यों की हमारी आम समझ नहीं बदलती, परिस्थिति नहीं सुधरेगी।

चालीस साल पहले जब मैं योकोहामा कस्टम कार्यालय में काम करता था, सनकिस्ट नींबू व नारंगियों के साथ भी ठीक यही होता था। मैं जापान में यह व्यवस्था लागू करने के विरुद्ध था, पर मेरी राय इस मौजूदा प्रणाली को यहाँ अपनाए जाने से रोक नहीं सकी।

अगर एक किसान परिवार या सहकारी समिति कोई नई प्रक्रिया, जैसे मैन्डारिन सन्तरों पर मोम लगाना, अपनाती है तो उस अतिरिक्त सावधानी और ध्यान के कारण उसका लाभ बढ़ता है। दूसरी कृषि सहकारी समितियाँ तुरन्त चौकन्नी हो जाती हैं, और जल्दी ही वे भी इस नई प्रक्रिया को अपना लेती हैं। ऐसे में बिना मोम के उपचार के फलों की ऊँची कीमतें नहीं मिल पाती। दो-तीन साल में पूरे देश-भर में मोम लगाने का काम शुरु हो जाता है। तब स्पर्धा के चलते कीमतें गिरती हैं और किसान को अतिरिक्त काम के साथ सामग्री और उपकरणों का खर्च भी वहन करना पड़ता है। अब मोम का घोल लगाना उसके लिए ज़रूरी बन जाता है।

ज़ाहिर है कि इस सबके परिणामस्वरूप उपभोक्ता परेशानी उठाता है। जो खाने की चीजें ताज़ी नहीं हैं, वे भी इसलिए बिक जाती हैं क्योंकि वे ताज़ी लगती हैं। जीव विज्ञान की दृष्टि से जिन फलों पर झुर्रियाँ दिखें, वे दरअसल साँस लेने और ऊर्जा खर्च करने को यथासंभव न्यूनतम स्तर पर ले आते हैं। जैसे जब कोई व्यक्ति ध्यान करने बैठता है तो उसके शरीर के अंगों की क्रिया, साँस लेना-छोड़ना और ऊर्जा की खपत न्यूनतम स्तर पर गिर आती है। अगर वह उपवास भी रखता है तो उसकी आँतरिक ऊर्जा संरक्षित रहती है। ठीक इसी तरह मैन्डारिन सन्तरे झुर्रीदार बन जाते हैं। जब फल सिकुड़ते हैं, सब्जियाँ मुरझाती हैं तो वे उस स्थिति में पहुँचते हैं जिसमें उनका तत्व लंबे समय तक बचा रहता है।

ताज़गी का आभास बनाए रखना भूल है, जैसे दुकानदार अपनी सब्ज़ियों पर बार-बार पानी छिड़कते रहते हैं। इससे सब्जियाँ ताज़ी दिखाई तो देती हैं, पर उनका स्वाद, उनके पोषक तत्व खत्म हो जाते हैं।

बहरहाल सभी कृषि सहकारी समितियाँ और सामूहिक छँटाई केंद्र समेकित तथा विस्तृत कर दिए गए हैं ताकि वे ऐसी ही अनावश्यक गतिविधियाँ जारी रख सकें। इसे ही 'आधुनिकीकरण' कहा जाता है। कृषि उत्पाद यहाँ डब्बों में बंद हो विशाल वितरण प्रणाली के सुपुर्द हो, उपभोक्ता को भेज दिए जाते हैं।

संक्षेप में कहना हो तो यह कहना होगा कि जब तक हमारी मूल्यों की वह मानसिकता नहीं उलटती, जिसमें आकार और दिखत गुणवत्ता से अधिक मूल्यवान हों, तब तक खाद्य प्रदूषण की समस्या सुलझाई ही नहीं जा सकती।

प्राकृतिक खाद्यान्न का विपणन

पिछले कई सालों से मैं 5,000 से 6,500 पाउण्ड चावल देश के कई भागों में स्थित प्राकृतिक भोजन की दुकानों में भेजता रहा हूँ। साथ ही टोक्यो के सुशीनामी ज़िले की सहकारी जीवन संघ को मैं 35 पाउण्ड के 400 कार्टन भर मैन्डारिन सन्तरे भी भेज चुका हूँ। इस सहकारी संघ के अध्यक्ष अप्रदूषित उत्पादन ही बेचना चाहते थे, यही हमारे करार का आधार बना था।

पहले साल इस काम में काफी सफलता मिली, पर कुछ शिकायतें भी। फल के आकार अलग-अलग थे, वे बाहर से कुछ गंदे लगे और कभी उन पर झुर्रियों की शिकायत हुई। मैंने फल साधारण, बिना छाप वाले कार्टनों में भेजे थे, और इससे कुछ लोगों को अकारण ही, शक हुआ कि वे 'घटिया' फल होंगे। अब मैं उन्हें ऐसे डब्बों में बंद करता हूँ जिन पर 'प्राकृतिक सन्तरे' छपा होता है।

क्योंकि प्राकृतिक फल-सब्ज़ियाँ सबसे कम खर्च और मेहनत से उगाए जा सकते हैं, मेरा तर्क है कि उन्हें सबसे सस्ती दरों पर बेचना चाहिए। पिछले साल टोक्यो क्षेत्र में मेरे फल सबसे कम कीमत के थे। कुछ दुकानदारों का कहना था कि उनका स्वाद भी सबसे अच्छा था। सबसे अच्छा तो यही हो कि फल स्थानीय स्तर पर बिकें, ताकि जो समय और धन, उन्हें भेजने में लगता है, वह भी बचे। फिर भी उनकी कीमत सही थी और वे फल बिना रसायनों के उगाए गए थे और स्वादिष्ट थे। इस साल मुझसे पिछले से दुगुने या तिगुने फलों की माँग की गई है।

इस बिन्दु पर प्रश्न यह उठता है कि प्राकृतिक खाद्य की सीधी बिक्री कितनी फैल सकती है। इस बारे में मेरी एक उम्मीद है। हाल में रासायनिक फल उत्पादक कठिन वित्तीय स्थिति में घिर चुके हैं, और इस कारण प्राकृतिक उत्पादन उन्हें आकर्षक लग रहा है। एक औसत किसान रसायन और रंग छिड़कने, मोम का घोल आदि लगाने पर चाहे जितनी भी मेहनत क्यों न कर ले, वह अपने फल उसी कीमत पर बेच सकता है, जिससे उसकी लागत का खर्च तक बमुश्किल निकलता है। इस साल सबसे बढ़िया फल पर वह प्रति पाउण्ड पाँच सेंट से अधिक मुनाफे की उम्मीद नहीं कर सकता। और जिस किसान के फल ज़रा भी कम गुणवत्ता के हुए, वह एक धेला भी नहीं कमा सकेगा।

क्योंकि पिछले कुछ सालों में कीमतों में गिरावट आई है, कृषि सहकारी समितियाँ और छँटाई केंद्र बड़े सख्त हो गए हैं और केवल सबसे बढ़िया फल ही चुनते हैं। घटिया फल छँटाई केंद्रों को बेचे ही नहीं जा सकते। पूरे दिन फल-बागान में सन्तरे तोड़ने, उन्हें ढोने और छँटाई कक्ष में पहुँचाने

के बाद भी किसान को रात ग्यारह-बारह बजे तक उन्हें एक-एक कर देखना पड़ता है और केवल सबसे बड़े और सुंदर फल ही छाँट कर डब्बों में रखने पड़ते हैं।*

कभी-कभी 'अच्छे फल' कुल फसल के 25 से 50 प्रतिशत ही होते हैं, सहकारी समिति इनमें से भी कई छँटाई के बाद अस्वीकृत कर देती है। अगर लाभ प्रति पाउण्ड केवल दो या तीन सेंट का होता हो, तो उसे भी अच्छा माना जाता है। सन्तरे-नारंगी उगाने वाला किसान कड़ी मेहनत के बावजूद खुद को केवल नुकसान से बमुश्किल बचा सकता है।

बिना रसायनों, खाद या जुताई के फल उगाना कम खर्चीला होता है, इसलिए किसान की कुल आय अधिक होती है। जो फल मैं भेजता हूँ, वे लगभग बिना छँटाई के होते हैं। मैं उन्हें सिर्फ डब्बों में भरता हूँ और बाज़ार को रवाना कर देता हूँ और रात को जल्दी सोता हूँ।

मेरे पड़ौस के दूसरे किसान समझ रहें हैं कि वे मेहनत तो खूब करते हैं, पर उनकी जेबों में कुछ बचता नहीं है। यह भावना बढ़ रही है कि कुदरती विधि से फल-सब्ज़ी उगाना अजीब नहीं है और किसान अब बिना रसायनों की खेती करने को तैयार हैं। परन्तु जब तक प्राकृतिक उत्पाद स्थानीय स्तर पर बेचे नहीं जा सकेंगे, औसत किसान इस चिंता में घुलता रहेगा कि उसके उत्पादन को बेचने का बाज़ार ही नहीं है।

जहाँ तक उपभोक्ता का सवाल है, आम धारणा यह है कि प्राकृतिक खाद्य सामग्री बड़ी महँगी होनी चाहिए। अगर वह महँगी न हो तो लोगों को शक होता है कि वह प्राकृतिक है भी या नहीं। एक परचून बिक्री करने वाले दूकानदार ने कहा कि अगर दाम ज़्यादा न हों तो कोई प्राकृतिक उत्पाद खरीदेगा ही नहीं।

मुझे फिर भी लगता है कि प्राकृतिक खाद्य पदार्थ दूसरे प्रकार के उत्पादों से सस्ता बिकना चाहिए। कई साल पहले मुझसे कहा गया कि मैं नीबू-नारंगी के बागान का शहद और पहाड़ी मुर्गियों के अण्डे टोक्यो के एक प्राकृतिक खाद्य भण्डार को भेजूं। जब मुझे पता चला कि वह व्यापारी उन्हें भारी कीमतों पर बेच रहा है, मैं बेहद नाराज़ हुआ। मुझे पता था कि जो व्यापारी इस तरह अपने ग्राहकों को ठगता है, वह मेरे भेजे चावलों को भी दूसरे चावल मिला कर ऊँची गैर-वाज़िब कीमत पर ग्राहकों को बेच सकता है। मैंने तुरन्त उसे माल भेजना बंद किया।

अगर प्राकृतिक उत्पाद की ऊँची कीमतें ली जाती हैं तो इसका मतलब है कि व्यापारी हद से ज्यादा मुनाफा कमा रहा है। इसके अलावा अगर प्राकृतिक खाद्य पदार्थ महँगा होता है तो वह विलास की चीज़ बन जाता है और केवल अमीर लोग ही उसे खरीद सकते हैं।

अगर प्राकृतिक खाद्य को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनना है, तो वह स्थानीय स्तर पर वाज़िब दामों में उपलब्ध होना चाहिए। अगर उपभोक्ता यह विचार स्वीकार कर ले कि कम कीमतों का मतलब यह नहीं कि वह उत्पाद प्राकृतिक नहीं है, तो सभी सही दिशा में सोचने लगेंगे।

* बचे फल आधी कीमत पर किसी ऐसी निजी कम्पनी को बेचने पड़ते हैं, जो उनका रस निकालती हो।

व्यावसायिक खेती असफल होगी

जब व्यावसायिक खेती का विचार पहले-पहल आया था तो मैंने उसका विरोध किया था। जापान में व्यावसायिक खेती किसान के लिए लाभदायक नहीं है। व्यापारियों का एक नियम यह है कि अगर किसी जिन्स को, जिसकी मूल कीमत एक निश्चित राशि की हो, आगे भी प्रसंस्करित किया जाता है तो उसे बेचते समय कुछ अतिरिक्त मूल्य भी कीमत में जुड़ जाता है। पर जापानी कृषि में मामला इतना सीधा नहीं रहता। खाद, चारा, उपकरण और रसायन आदि उन कीमतों पर खरीदे जाते हैं जो विदेश में तय होती हैं, और जब विदेशों से आयातित वस्तुएँ काम में ली जाती हैं, तो उत्पाद की कीमत प्रति पाउण्ड कितनी बैठेगी, यह कहा नहीं जा सकता। तब कीमतें पूरी तरह व्यापारियों पर निर्भर होती हैं। और जब बिक्री की कीमत भी तय हो तो किसान की आमदनी उन ताक़तों पर निर्भर हो जाती है, जो उसके बस में नहीं हैं।

सामान्य तौर पर व्यावसायिक कृषि एक अस्थिर प्रस्ताव है। बेहतर तो यह हो कि किसान पैसे कमाने की चिंता छोड़ केवल अपनी ज़रूरत की चीजें उगाए। अगर आप धान का एक दाना बोते हैं तो आपको धान के एक हज़ार से ज़्यादा दाने मिलते हैं। शलगम की एक क्यारी से इतनी शलगम मिल जाती है कि जिसका अचार सर्दियों-भर के लिए काफी हो। अगर आप इसी तरह बढ़ते जाएँ, तो आप बिना संघर्ष किए इतना पाएँगे कि जो आपके लिए काफी होगा, बल्कि उससे भी अधिक। पर, अगर इसके बदले आप पैसा कमाना चाहते हैं तो आप मुनाफे की उस गाड़ी में चढ़ेंगे, जो आपको भगा ले जाएगी।

पिछले कुछ समय से मैं श्वेत लैगहॉर्न मुर्गियों के बारे में सोच रहा हूँ। क्योंकि इन मुर्गियों की उन्नत किस्म साल में 200 दिन से भी अधिक अण्डे देती है, उन्हें लाभ के लिए पालना अच्छा धंधा माना जाता है। परन्तु जब इन्हें व्यावसायिक स्तर पर पाला जाता है तो इन मुर्गियों को छोटे-छोटे दड़बों की लंबी कतारों में रखा जाता है, जो जेलनुमा होते हैं और जीवन-भर वे ज़मीन पर अपना पैर तक नहीं रख पातीं। उन्हें बीमारियाँ घेरे रहती हैं जिसके कारण उन्हें एन्टीबॉयोटिक ठुंसाए जाते हैं और उनके चुग्गे में विटामिन और हार्मोन मिले होते हैं।

कहा यह जाता है कि स्थानीय मुर्गियाँ, जो यहाँ प्राचीन काल से पाली जाती रही हैं – भूरी और काली *शामो* तथा *चाबी* मुर्गियाँ – उनकी अण्डे देने की क्षमता केवल आधी है। नतीजतन ये मुर्गियाँ

जापान से लगभग गायब ही हो गई हैं। मैंने ऐसी दो मुर्गियाँ और एक मुर्गे को पहाड़ी ढलानों पर खुला छोड़ दिया और साल-भर में उनकी संख्या चौबीस हो गई। जब यह लग रहा था कि अण्डे कम दिए जा रहे हैं, ये स्थानीय चिड़ियाएँ दरअसल अपने चूज़े पाल रही थीं।

पहले साल में लैगहॉर्न मुर्गियों की अण्डे देने की क्षमता स्थानीय मुर्गियों की तुलना में अधिक होती है, पर साल-भर में वे रीती हो जाती हैं और उन्हें अलग कर दिया जाता है, जबकि जिस शामो के साथ हमने शुरुआत की, वे दस स्वस्थ मुर्गियों में बदलीं और फल-बागान के पेड़ों के नीचे दौड़ती रहीं । इसके अलावा सफेद लैगहॉर्न मुर्गियाँ इसलिए भी ज्यादा अण्डे देती हैं क्योंकि उन्हें कृत्रिम रूप से संवर्धित विदेशों से आयातित दाना दिया जाता है, जिसे व्यापारियों से खरीदना पड़ता है। स्थानीय मुर्गियाँ खुली घूमती हैं, बीज और कीड़े खोद-खाद कर खाती हैं और बेहद स्वादिष्ट प्राकृतिक अण्डे देती हैं।

अगर आप सोचते हैं कि व्यावसायिक स्तर पर उगाई गई सब्जियाँ प्रकृति की देन हैं, तो आपको वास्तविकता जान कर सच में अचरज होगा। ये सब्जियाँ नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश का पनीला रासायनिक घोल हैं, जिन्हें बीज की ज़रा-सी मदद से उगाया जाता है। उनका स्वाद भी ठीक ऐसा ही लगता है। और व्यावसायिक मुर्गियों के अण्डे (आप चाहे तो उन्हें अण्डों का नाम दें), कृत्रिम चुग्गा, रसायनों और हार्मोन का मिश्रण हैं। ये प्रकृति का उत्पाद नहीं, बल्कि मानव-निर्मित कृत्रिम वस्तुएँ हैं जो अण्डों के भेस में मिलते हैं। जो किसान ऐसी सब्जियों और अण्डों का उत्पादन करते हैं मैं उन्हें किसान नहीं, निर्माता कहता हूँ।

अगर आप निर्माण की बात कर रहे हैं तो आपको लाभ कमाने के लिए अच्छा-खासा हिसाब-किताब करना होगा। अब क्योंकि व्यावसायिक किसान पैसे नहीं बना पाता, वह ऐसे व्यापारी की तरह है जिसे 'एबैकस' का इस्तेमाल नहीं आता। ऐसे व्यक्ति को दूसरे लोग बेवकूफ मानते हैं और उसका मुनाफा राजनीतिज्ञ और बिक्री करने वाले दूकानदार चूस लेते हैं।
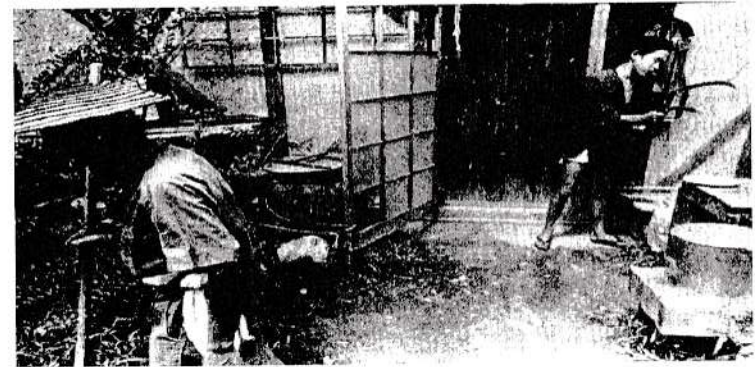
रोज के काम की तैयारी में।

पुराने समय में योद्धा, किसान, दस्तकार और व्यापारी हुआ करते थे। कृषि को ऐसी चीज़ माना जाता था जो व्यापार या निर्माण की बनिस्बत वस्तुओं के स्त्रोत से जुड़ी हो और किसान को 'देवताओं का प्याला थामने वाला' कहा जाता था। वह किसी-न-किसी तरह गुजर-बसर चला ही लेता था और खाने के लिए उसके पास हमेशा पर्याप्त होता था।*

पर अब तो पैसा बनाने का हल्ला है। अति फैशनदार उत्पाद जैसे अंगूर, टमाटर, तरबूज-खरबूज उगाए जा रहे हैं। बेमौसम के फूल और फल 'गर्मघरों' में पैदा किए जा रहे हैं। मत्स्य पालन शुरु हुआ है और पशु इसलिए पाले जा हे हैं क्योंकि उनसे ऊँचा मुनाफ़ा कमाया जा सकता है।

यह वृत्ति साफ दिखाती है कि जब खेती को ऊपर-नीचे भागने वाली आर्थिक गाड़ी पर सवार कर दिया जाए तो क्या होता है। कीमतों में हिंसक उतार-चढ़ाव। लाभ होता है, पर साथ ही नुकसान भी। असफलता निश्चित है, उसे टाला नहीं जा सकता। जापानी कृषि दिशा खो चुकी है और अस्थिर बन चुकी है। वह कृषि के मूल सिद्धान्तों से भटक कर धन्धा बन चुकी है।

* भारत में भी खेती-किसानी को लेकर यह कहावत आम है, ''उत्तम खेती, मध्यम बान। निकृष्ट नौकरी, भीख निदान।। ''

शोध किसके फायदे के लिए?

जब मैंने धान और सर्दियों के अनाज की सीधे बुआई शुरु की तो मेरी योजना यह थी कि मैं फसल को हाथ की दरांती से काटूँगा, सो मैंने सोचा कि बीज सीधी कतारों में बोने से आसानी रहेगी। कई कोशिशों के बाद, एक नौसिखिए की तरह हाथ-पैर मारने के बाद, मैंने अपने हाथों से एक बिजाई उपकरण बनाया। यह सोचकर कि यह दूसरे किसानों के लिए भी व्यावहारिक होगा, मैं उसे परीक्षण केंद्र के व्यक्ति के पास ले गया। उसने मुझसे कहा कि क्योंकि हम बड़ी-भारी मशीनों के युग में रहते हैं, वह मेरे 'जुगाड़' के लिए किसी तरह की ज़हमत नहीं उठाएगा।

तब मैं एक कृषि उपकरण निर्माता के पास गया। मुझे कहा गया कि ऐसी सीधी-सरल मशीन को कितना भी जोर लगा दिया जाए, साढ़े तीन डॉलर प्रति नग से ज़्यादा कीमत पर बेचा नहीं जा सकेगा। 'अगर हम कोई ऐसा उपकरण बना देते हैं तो किसान यह सोचना भी शुरु कर सकते हैं कि उन्हें उन ट्रैक्टरों की भी ज़रूरत नहीं है जो हम हज़ारों डॉलर की कीमत पर बेचते हैं।' उन्होंने कहा कि ताज़ा सोच यह है कि धान बोने की मशीन जल्द से जल्द ईज़ाद की जाए, उसे जब तक हो, ताबड़-तोड़ बेचा जाए और तब कुछ नया बाज़ार में उतारा जाए। वे छोटे ट्रेक्टरों के बदले बड़े आकार का मॉडल बाज़ार में उतारना चाहते थे, मेरा उपकरण तो एक कदम पीछे ले जाने वाला था। समय की माँग के अनुरूप सारे संसाधन बेकार की शोध में उंडेले जा रहे हैं, और मेरा पेटेन्ट आज तक ताक में धरा हुआ है।

यही उर्वरकों और रसायनों के साथ भी हो रहा है। किसान को ध्यान में रख कर खाद विकसित करने के बदले, आज पूरा ज़ोर कुछ नया बनाने में लगाया जाता है ताकि पैसा कमाया जा सके। सारे तकनीकी लोग जैसे ही परीक्षण केंद्र में अपना काम छोड़ते हैं, वे बड़ी रासायनिक कम्पनियों में नौकरियाँ करने लगते हैं।

हाल ही में, मैं श्री आसादा से बातचीत कर रहा था, जो कृषि व वानिकी मंत्रालय के एक तकनीकी अधिकारी हैं, उन्होंने एक मज़ेदार किस्सा सुनाया। गर्मघरों में उगाई सब्जियाँ बेस्वाद होती हैं। यह सुन कर कि सर्दियों में भेजे जाने वाले बैंगनों में कोई विटामिन नहीं होता है ना खीरे में कोई स्वाद, उन्होंने इस पर शोध की और इसका कारण तलाशा; विनायल और कांच से बने उन गर्मघरों में, जिनमें सब्जियाँ उगाई जा रही थी, सूरज की कुछ किरणें प्रवेश नहीं कर पातीं हैं। इसके बाद खोजबीन गर्मघर के अंदर की प्रकाश व्यवस्था की ओर मुड़ गई।

यहाँ मूल सवाल यह है कि क्या इंसानों के लिए सर्दियों में बैंगन और खीरा खाना ज़रूरी है या नहीं। पर इस बिन्दु को छोड़ भी दें, तो सर्दियों के मौसम में उन्हें उगाने का कारण सिर्फ यही तो है कि उन्हें अच्छे दामों में बेचा जा सकता है। कोई उन्हें उगाने का तरीका विकसित कर लेता है, पर कुछ समय गुज़रने के बाद पता लगता है कि इन सब्ज़ियों में कोई पोषक तत्व हैं ही नहीं। अब तकनीक का विशेषज्ञ यह सोचने लगता है कि अगर पोषक तत्व खो रहे हैं तो इस अभाव को दूर करने का कोई उपाय ढूँढना चाहिए। क्योंकि लगता यह है कि गड़बड़ प्रकाश व्यवस्था में है तो वह प्रकाश की किरणों पर शोध करने लगता है। उसका सोचना यह है कि अगर गर्मघर में विटामिन युक्त बैंगन उगाना संभव होगा तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। मुझे बताया गया कि तकनीक के ऐसे कुछ जानकार भी हैं जो अपनी समूची ज़िन्दगी ऐसी ही शोध में लगा देते हैं।

ज़ाहिर है कि अगर इस बैंगन के उत्पादन में इतनी कोशिश और संसाधन लगाए गए हैं और इस सब्ज़ी को पोषण से भरपूर भी कहा जाता है, तो उसकी कीमत और बढ़ाई जा सकती है और वह अच्छी बिकती भी है। 'अगर यह मुनाफा देती है और आप उसे बेच भी पाते हैं, तो इसमें कोई गलती भी नहीं हो सकती।'

लोग कितनी भी मशक्कत क्यों न कर लें, वे प्राकृतिक रूप से उगाए गए फलों और सब्ज़ियों से बेहतर कुछ बना ही नहीं सकते। अप्राकृतिक रूप से उगाए गए उत्पाद लोगों की क्षणिक इच्छाओं की पूर्ति तो कर सकते हैं, पर इससे मानव-शरीर कमज़ोर होता है और उसकी आंतरिक रासायनिक क्रियाएँ बदल जाती हैं ताकि वह ऐसे ही खाने पर निर्भर बन जाए। और जब ऐसा होता है तो पूरक विटामिनों ओर दवाओं की ज़रूरत पड़ती है। ऐसी स्थिति सिर्फ किसानों के लिए परेशानी और उपभोक्ता के लिए कष्ट पैदा करती है।

इंसान का भोजन क्या है?

उस रोज़ एनएचके टेलीविज़न से कोई आया और उसने मुझसे कहा कि मैं प्राकृतिक भोजन के स्वाद पर कुछ बोलूँ। हम बातचीत करते रहे, और तब मैंने उससे पूछा कि वह नीचे दड़बे में बंद मुर्गी के अण्डों और फल-बागान में मुक्त दौड़ने वाली मुर्गी के अण्डों की तुलना करें। उसने पाया कि एक मुर्गीखाने के अण्डों की ज़र्दी मुलायम और पनीली है और उनका रंग भी हल्का पीला हैं। उसने गौर किया कि पहाड़ों पर मुक्त विचरने वाली मुर्गियों के अण्डों की ज़र्दी सख्त और लचीली है और उसका रंग चमकीला नारंगी है। जब कस्बे में शूशी रेस्त्रां चलाने वाले बुज़ुर्गवार ने एक प्राकृतिक अण्डे को चखा तो उसने कहा कि यह तो 'असली अण्डा है', ठीक पुराने समय जैसा, और यों खुशी मनाई मानों वह बेशकीमती खज़ाना हो।

ऊपर नन्हें सन्तरों के बागान में खरपतवार और तिपतिया के बीच कई तरह की सब्ज़ियाँ उग रही हैं। शलजम, बुर्डाक, खीरा और स्क्वॉश, मूंगफली, गाजर, खाने योग्य गुलदाऊदी, आलू, सरसों का साग, पत्तागोभी, कई तरह की फलियाँ, जड़ी-बूटियाँ और सब्ज़ियाँ, सब एक साथ उग रही हैं। बातचीत इस ओर मुड़ी कि इस आधी जंगली स्थिति में उगने वाली सब्ज़ियों का स्वाद, घरेलू रसोई-बागान में उगाई गई सब्ज़ियों या खेतों में रासायनिक खाद की मदद से उगाई गई सब्ज़ियों से बेहतर है या नहीं। जब हमने उनकी तुलना की तो पाया कि वे स्वाद में बिल्कुल भिन्न थीं और 'जंगली' सब्ज़ियाँ खुशबू और स्वाद में कहीं बेहतर थीं।

मैंने उस खबरनवीस को बताया कि जब सब्ज़ियाँ, रासायनिक खाद से तैयार खेतों में उगाई जाती हैं तो उन्हें नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश दिया जाता है। पर जब वे ज़मीन में उगी वनस्पतियों के बीच उगती हैं, जो मिट्टी पहले ही जैविक तत्वों से समृद्ध होती है, इससे उन्हें संतुलित मात्रा में पोषक तत्व मिलते हैं। खरपतवार और घासों में विविधता का मतलब होता है सब्ज़ियों को सभी विविध व आवश्यक पोषक व सूक्ष्म पोषक तत्व मिल पाते हैं। जो पौधे ऐसी संतुलित मिट्टी में उगते हैं, उनके स्वाद और महक में नफासत होती है।

खाने योग्य जड़ी-बूटियाँ और जंगली सब्ज़ियाँ और पौधे, जो पहाड़ों में और घास के मैदानों में उगते हैं, उनमें पोषण की मात्रा ऊँची होती है और वे औषधियों के रूप में भी उपयोगी होती हैं। भोजन और औषधि दरअसल दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं : वे एक ही शरीर का अगला और पिछला हिस्सा

होते हैं। रसायनों की मदद से उगाई गई सब्ज़ियाँ खाने के लिए काम में ले ली जाती हैं, पर औषधि की तरह उनका उपयोग नहीं किया जा सकता।

जब आप बसन्त* में सात बूटियाँ इकट्ठा करते और खाते हैं तो आपकी आत्मा कोमल बनती है। और जब आप सेवाल की अंकुर (ब्रैकन शूट्स), पर्णांग (ऑसमण्ड) तथा शैपर्डस् पर्स खाते हैं तो आप शान्त हो जाते हैं। अशांति और अधैर्य की भावना आपको सताए तो शैपर्डस् पर्स सबसे कारगर रहता है। कहते हैं कि अगर बच्चे शैपर्डस् पर्स, विलो की कलियाँ या पेड़ों में रहने वाले कीट खाएँ तो अकारण बुक्के फाड़ कर रोने के दौरे ठीक हो जाते हैं। पुराने ज़माने में उन्हें अक्सर ये चीज़ें खिलाई जाती थीं। डाइकॉन (जापानी मूली) का पूर्वज होता था एक पौधा – नाज़ूना (शैपर्डस् पर्स) नाज़ूना शब्द नागोमू से जुड़ा शब्द है, जिसका मतलब होता है कोमल या मुलायम बनाना। डाइकॉन वह बूटी है जो व्यक्ति की प्रवृत्ति को नरम बनाती है। जंगली खाद्य पदार्थों में अक्सर कीट नज़रअंदाज़ किए जाते हैं। युद्ध के दौरान जब मैं शोध केंद्र में काम करता था तो मुझे यह ज़िम्मेदारी सौंपी गई कि मैं तय करूँ कि दक्षिण एशिया के कौन-कौन-से कीड़े खाए जा सकते हैं। मैं यह जान कर चकित रह गया कि लगभग हरेक कीड़ा खाया जा सकता है।

* जलकुम्भी, शैपर्डस् पर्स, जंगली शलगम, कॉटन वीड, चिकवीड, जंगली मूली और बिच्छु बुटी।

सरसों एवं जंगली शलजम का खेत।

उदाहरण के लिए कोई यह सोच तक नहीं सकता कि जूँ और पिस्सू का कोई उपयोग भी हो सकता है, पर अगर जूँ को सर्दियों के अनाज के साथ पीस कर खाया जाए तो यह मिरगी की दवा है और पिस्सू शीतदंश की दवा है। सभी कीड़ों के अण्डे खाद्य हैं, पर वो जिन्दा होने चाहिए। पुराने ग्रन्थों को ध्यान से देखने पर मुझे ऐसी कहानियाँ मिलीं जिनमें बड़े मकानों के उपगृहों से खोजे गए मैगट कीड़ों से "लज़ीज व्यंजन" बनता था और रेशम के कीड़ों के व्यंजन को अतुलनीय कहा गया है। यहाँ तक कि अगर पतंगों के पंखों से पहले पाउडर झाड़ दिया जाए तो वे खाने में बेहद स्वादिष्ट होते हैं।

सो स्वाद की दृष्टि से या स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो कई चीजें, जिन्हें लोग घृणित मानते हैं, दरअसल न केवल स्वादिष्ट होती हैं, बल्कि मानव-शरीर के लिए लाभदायक भी।

जीवविज्ञान की दृष्टि से जो सब्ज़ियाँ अपने जंगली पूर्वजों के सबसे अधिक करीब होती हैं वे महक और गुण में सबसे श्रेष्ठ होती हैं। उदाहरण के लिए लिली परिवार के पौधे (जिसमें नीरा लहसुन, चीनी प्याज, हरा प्याज़, मोती प्याज़, और कंद प्याज़ आदि हैं) नीरा और लीक (चीनी प्याज़) पोषण में सबसे श्रेष्ठ हैं—जड़ी-बूटी की औषधि में काम आते हैं और सामान्य कुशलक्षेम के लिए भी उपयोगी हैं। परन्तु ज़्यादातर लोगों को घरेलू किस्में, जैसे हरा प्याज़ और कंद प्याज़ का स्वाद बेहतर लगता है। किसी कारण से आधुनिक लोग उन सब्ज़ियों की महक और स्वाद को अधिक पसंद करते हैं, जो अपनी जंगली स्थिति से दूर हो चुकी हैं।

ऐसी ही पसंद खाने वाले पशुओं के विषय में भी लगती है। जंगली पक्षियों का स्वाद घरेलू पक्षियों, जैसे मुर्गियों और बतखों की तुलना में बेहतर होता है, जो अपने प्राकृतिक वातावरण तथा आवास से दूर हैं। फिर भी उनका स्वाद अच्छा माना जाता है और वे महँगी भी बिकती हैं। बकरी का दूध, गाय के दूध से अधिक गुणकारी है, पर गाय के दूध की माँग ही ज्यादा है।

जो खाने-पीने की वस्तुएँ अपनी जंगली स्थिति से दूर हो चुकी हैं, और जो रसायनों के सहारे पूरी तरह कृत्रिम वातावरण में उगाई जाती हैं, वे हमारे शरीर की रासायनिक बनावट को असंतुलित करती हैं। जितना असंतुलित हमारा शरीर बनता है उतना अधिक अप्राकृतिक भोजन की इच्छा हमारी होने लगती है। यह स्थिति स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है।

यह कहना कि जो कुछ व्यक्ति खाता है वह उसकी पसंद का मामला है, असल में खुद को छलना है, क्योंकि अप्राकृतिक ओर विदेशी भोजन किसान और मछुआरे के लिए परेशानियाँ पैदा करता है। मुझे लगता है कि जितनी व्यक्ति की कामना-इच्छा बढ़ती है, उनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति को उतनी ही अधिक मशक्कत करनी पड़ती है। कुछ मछलियाँ, जैसे लोकप्रिय ट्यूना और यलो टेल को दूर पानी में पकड़ना पड़ता है, पर सार्डिन, सी ब्रीम, फ्लाउन्टर और दूसरी छोटी मछलियाँ अन्तर्देशीय समुद्र में ही बहुतायत में मिलती हैं। पोषण की बात करें तो शरीर के लिए नदियों व नहरों के ताज़े पानी के जन्तु, जैसे कार्प मच्छी, तालाबी घोंघे, नहरी झींगा मछली, दलदली केंकड़े आदि खारे पानी में पाई जाने वाली मछलियों से बेहतर हैं। इसके बाद आती है छिछले पानी वाली समुद्री मछलियाँ और सबसे आखिर में गहरे खारे पानी व दूर मिलने वाली समुद्री मछलियाँ। जो भोजन सबसे पास उपलब्ध हो, वही इंसानों के लिए सबसे अच्छा होता है, और जिन्हें पाने के लिए उसे संघर्ष करना पड़े, वह सबसे कम गुणकारी होते हैं।

कहने का मतलब है कि अगर व्यक्ति वह स्वीकार ले जो उसे अपने आस-पास मिलता है, तो सब-कुछ ठीक चलता है। अगर किसान, जो इस गाँव के पास रहते हैं, केवल वह सब खाएँ, जो यहीं उगाया या इकट्टा किया जाता है, तो कोई भूल नहीं होगी। अंत में, ऊपर फल-बागान में रहने वाले नौजवानों की तरह, लोगों को भूरा चावल, बिना पॉलिश किया बाजरा, जंगली गेहूँ (बकव्हीट) और साथ में मौसमी साग और अर्ध-जंगली सब्ज़ियाँ खाना ही सबसे आसान लगने लगेगा। और ऐसे में वे सबसे बढ़िया भोजन पाएँगे, जिसमें स्वाद व खुशबू हो और जो शरीर के लिए भी सबसे अच्छा हो।

अगर एक चौथाई एकड़ के खेत से, जैसे इन खेतों में से किसी एक से 1,300 पाउण्ड धान व 1300 पाउण्ड सर्दियों के अनाज की फसल मिलती है, तो पाँच से दस ऐसे लोगों की गुज़र-बसर चल सकती है जो प्रतिदिन औसतन एक घण्टे से भी कम समय तक खेत में काम करें। पर अगर यह खेत चरागाह में बदल जाता है, या इसमें उगा अनाज पशुओं को खिला दिया जाता है तो चौथाई एकड़ की उपज से केवल एक ही व्यक्ति का गुज़ारा हो सकेगा। माँस उस स्थिति में विलास का भोजन बन जाता है, जब उसके उत्पादन के लिए उस ज़मीन की ज़रूरत होती जिसमें सीधे इंसानों को खाना मिल सकता था।* यह साफ और निश्चित रूप से दर्शाया जा चुका है। हर व्यक्ति को गंभीरता से सोचना चाहिए कि वह महँगे तरीके से उत्पादित भोजन के उपयोग से कितनी कठिनाई पैदा करता है।

माँस और आयातित भोजन विलास इसलिए हैं क्योंकि इनके लिए स्थानीय स्तर पर उगने वाली परंपरागत सब्ज़ियों और अनाज की तुलना में अधिक ऊर्जा और संसाधनों का निवेश करना पड़ता है। जो लोग सीधे-सादे स्थानीय भोजन तक स्वयं को सीमित कर लेते हैं, उन्हें कम काम करना पड़ता है और वे कम ज़मीन का उपयोग करते हैं, बनिस्बत उनके, जिन्हें विलासिता की भूख हो। अगर लोग माँस और आयात की हुई खाद्य सामग्रियाँ खाते रहे तो यह तय है कि अगले दस सालों में जापान खाद्य विपदा में उलझ जाएगा। अगले तीस सालों के अंदर खाद्य सामग्री की भारी किल्लत होगी। यह बेहूदा विचार न जाने कहाँ से आ घुसा है कि रोज़ाना चावल खाने के बदले ब्रेड (पावरोटी) खाना जापानी लोगों के दैनिक जीवन में सुधार का संकेत है। दरअसल ऐसा है नहीं। भूरा चावल और सब्जियाँ गंवई खान-पान लग सकता है, पर पोषण की नज़र से यह बेहद उम्दा है और आदमी को आसानी से और प्रत्यक्ष जीवन जीने में मदद करता है।

अगर हमारे सामने खाद्य विपदा आती है तो वह इसलिए नहीं आएगी कि प्रकृति की उत्पादक क्षमता अपर्याप्त है, बल्कि इंसान की इच्छाओं की अति से आएगी।

* यद्यपि उत्तरी अमरीका में अधिकांश माँस पशुओं को गेहूँ, जौ, मक्का और सोयाबीन खिला कर पैदा किया जाता है, ज़मीन का ऐसा बड़ा हिस्सा भी है जिसका सबसे अच्छा उपयोग तभी हो सकता है, जब उसे नियमित रूप से चरागाह या घास के खेतों में बदला जाए। परन्तु जापान में ऐसी ज़मीन ही नहीं है। वहाँ माँस का आयात करना पड़ता है।

जौ की करुण मौत

चालीस वर्ष पहले, संयुक्त राज्य अमरीका और जापान की राजनीतिक तनातनी के चलते अमरीका से गेहूँ आयात करना असंभव हो गया। देश-भर में घरेलू गेहूँ उगाने का एक आम आंदोलन छिड़ गया। गेहूँ की अमरीकी किस्मों के पकने – तैयार होने में लंबा समय लगता था और गेहूँ की बालियाँ जापानी बरसात के मौसम के बीच जाकर पकती थीं। यद्यपि किसान ने उसे उगाने में खूब ध्यान दिया भी हो, तो भी अक्सर वह कटाई के पहले ही भीगता और सड़ने लगता। ये किस्में भरोसेमंद न थीं और उन्हें आसानी से बीमारियाँ भी घेर लेती थीं, सो किसान गेहूँ नहीं उगाना चाहते थे। जब उन्हें परम्परागत तरीके से पिसा या भाड़ में भूना जाता तो उनका स्वाद इतना खराब लगता कि साँस ही बंद होने लगती और आपको उसे थूकना पड़ता।

जापान की जई और जौ की पम्परागत किस्में मई में ही, बरसात के पहले, काटी जा सकती हैं, वे तुलनात्मक रूप से सुरक्षित फसलें भी हैं। फिर भी किसानों पर गेहूँ की खेती थोपी गई। सभी लोग हँसते और कहते कि गेहूँ उगाने से बुरा कुछ भी नहीं है, फिर भी वे धीरज से सरकारी नीति का पालन करते रहे।

युद्ध के बाद अमरीकी गेहूँ फिर से भारी मात्रा में आयात हुआ जिससे जापानी गेहूँ की कीमतें गिरीं। गेहूँ न उगाने के कारणों में यह एक कारण भी जुड़ा। 'गेहूँ छोड़ो गेहूँ छोड़ो' का नारा सरकारी कृषि नेताओं ने देश-भर में गुँजाया और किसानों ने बखुशी उसे उगाना छोड़ा। उसी समय, आयातित गेहूँ की सस्ती दरों के कारण सरकार ने किसानों को इस बात के लिए भी प्रोत्साहित किया कि वे सर्दियों की परम्परागत फसलें, जई और जौ, उगाना भी बंद करें। इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि जापान के खेत सर्दियों में रीते रखे जाने लगे।

लगभग दस साल पहले एनएचके टेलीविजन के 'वर्ष का श्रेष्ट किसान' स्पर्धा में मुझे ऐहीमे क्षेत्र (प्रीफैक्चर) का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुना गया। उस समय चयन समिति के एक सदस्य ने पूछा, 'श्री फुकुओका' आप जई और जौ उगाना बंद क्यों नहीं करते? मेरा जवाब था, 'जई और जौ आसान फसले हैं। चावल के बाद उन्हें उगाने पर हम जापान के खेतों से सबसे अधिक मात्रा में कैलोरी पाते हैं। इसलिए मैं उन्हें उगाना नहीं छोड़ता।'

तब मुझे यह साफ-साफ बता दिया गया कि अगर कोई व्यक्ति, जो इस अड़ियल तरीके से कृषि मंत्रालय की इच्छा के विरुद्ध जाता है उसे 'श्रेष्ठतम किसान' घोषित नहीं किया जा सकता। मैंने कहा,

'अगर कोई इसलिए श्रेष्ठ किसान पुरस्कार नहीं पाता, तो मैं इस पुरस्कार के बिना ही ठीक हूँ।' बाद में चयन समिति के एक सदस्य ने मुझसे कहा कि अगर मैं विश्वविद्यालय छोड़ूँ और खेती करने लगूँ तो मैं ठीक आप जैसी खेती ही करूँ, हर साल गर्मियों में धान और सर्दियों में जई और जौ उगाऊँ, जैसे युद्ध के पहले किया जाता था।

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद मैं एनएचके. टेलीविजन की एक पैनल चर्चा में विश्वविद्यालयों के कई प्रोफेसरों के साथ शामिल हुआ। इस बार भी मुझसे पूछा गया, 'आप जई और जौ उगाना बंद क्यों नहीं करते?' मैंने एक बार फिर साफ-साफ कहा कि दर्जनों अच्छे कारणों के चलते मैं ऐसा नहीं करने वाला। उस समय सर्दियों के अनाज के उत्पादन का नारा था – 'करुण मौत'। अर्थात् सर्दियों का अनाज और उसके बाद धान उगाने की प्रथा चुपचाप बंद हो जानी चाहिए। करुण मौत तो बेहद नरम जुमला है, कृषि मंत्रालय तो इस प्रथा को गड्ढे में दफन कर खत्म करना चाहता था। जब मैं यह समझ गया कि कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य सर्दियों के अनाज उगाने की प्रथा को जल्द से जल्द बंद करवाना था, मानो उसे 'सड़क किनारे मार कर फेंक देना' तो मैं गुस्से से फट पड़ा।

चालीस साल पहले गेहूँ उगाने का बिगुल बजाया गया था, विदेशी अन्न, एक निहायत बेकार और असंभव फसल उगाने का। तब यह कहा गया कि जौ का पोषण तत्व अमरीकी अनाज-सा ऊँचा नहीं है और किसानों ने बेमन और दुख से इन परम्परागत अनाजों को उगाना बंद किया। जब जीवन स्तर कुदान भरता हुआ ऊँचा उठने लगा, तो हुकुम हुआ कि माँस खाओ, अण्डा खाओ, दूध पीओ, चावल खाना छोड़, ब्रेड खाओ। मक्का, सोयाबीन और गेहूँ बड़ी भारी मात्रा में आयात किए जाने लगे। अमरीकी गेहूँ सस्ता था, अत: देसी जई और ज्वार का उत्पादन बंद कर दिया गया। जापानी कृषि ने ऐसे कदम उठाए जिससे किसान शहरों में अंशकालीन नौकरियाँ ढूँढ़ने पर मजबूर हुए ताकि वे वह सब खरीद सकें जिसे उगाने की उन्हें मनाही की गई थी।

और अब एक नया सरोकार उभरा है, खाद्य संसाधनों की कमी का। जई और ज्वार उत्पादन में आत्मनिर्भरता की फिर से पैरवी की जा रही है। वे कह रहे हैं कि इसके लिए अनुदान (सब्सिडी) भी

दिया जाएगा। पर दो-एक साल परम्परागत अनाज उगाकर उसे फिर से बंद कर देना काफी नहीं है। हमें एक विवेकपूर्ण कृषि नीति स्थापित करनी होगी। क्योंकि कृषि मंत्रालय को इस बात का इल्म ही नहीं है कि क्या उगाया जाना चाहिए, और न उसकी इस विषय की कोई समझ ही है कि जो खेतों में उगता है उसका लोगों के खान-पान से क्या रिश्ता है, अत: एक सुसंगत कृषि नीति भी असंभव है।

अगर मंत्रालय के कार्मिक पहाड़ों व घास के मैदानों में जो बसंत की सात बूटियाँ और पतझड़ की सात बूटियाँ* इकट्ठा करें, उन्हें चखें तो शायद यह समझ पाएँ कि मानवीय पोषण के क्या स्रोत होते हैं। अगर वे तलाश और आगे जारी रखें तो यह भी देख सकें कि परंपरागत घरेलू फसलें जैसे घास, जौ, जई, जंगली गेहूँ (बकव्हीट) और सब्जियों के सहारे बखूबी जीया जा सकता है। तब शायद वे यह भी तय कर सकें कि जापानी कृषि को इतना भर उगाना ही पर्याप्त होगा। और अगर किसानों को बस इतना ही उगाना है तो खेतीबारी करना भी बड़ा आसान बन जाएगा।

अब तक आधुनिक अर्थशास्त्रियों की सोच यह रही है कि लघु स्तर पर की जाने वाली आत्मनिर्भर खेती गलत है – अर्थात् यह आदिम तरीके की खेती है – जिसे जल्द से जल्द समाप्त कर डालना चाहिए। यह प्रचार किया जा रहा है कि हर खेत का क्षेत्र बढ़ना चाहिए ताकि बड़े पैमाने की अमरीकी शैली की खेती को अपनाया जा सके। सोचने का यह तरीका केवल खेती पर ही नहीं, बल्कि हर क्षेत्र के विकास पर लागू हो रहा है।

लक्ष्य यह है कि खेती में केवल कुछ ही लोग जुटे रहें। कृषि अधिकारी कहते हैं कि बड़ी-बड़ी आधुनिक मशीनों के उपयोग से उसी जमीन से कम लोग अधिक फसल ले सकते हैं। इसे कृषि की प्रगति माना जाता है। युद्ध के बाद जापान के करीब 70 से 80 प्रतिशत लोग किसान थे। जल्द ही यह संख्या घट कर 50 प्रतिशत, फिर 30 प्रतिशत, 20 प्रतिशत में बदली और आज यह आंकड़ा लगभग 14 प्रतिशत के आस-पास है। कृषि मंत्रालय की मंशा यह है कि हम भी यूरोप और अमरीका का स्तर हासिल कर लें ताकि 10 प्रतिशत से भी कम लोग किसान हों और बाकी को खेतीबारी करने से हतोत्साहित किया जाए।

मेरा मत है कि जहाँ 100 फीसदी लोग किसान हों आदर्श स्थिति वह हो। जापान में प्रति व्यक्ति खेती लायक भूमि सिर्फ चौथाई एकड़ है। अगर हरेक को चौथाई एकड़ ज़मीन दे दी जाए, यानी पाँच सदस्यों के परिवार को सवा एकड़, तो यह एक परिवार के साल-भर के गुज़र-बसर के लिए काफी होगी। अगर कुदरती खेती की जाए तो किसान के पास आराम और ग्राम-समुदाय में सामाजिक गतिविधियों के लिए भी खूब समय होगा। देश को उल्लासमय और सुखद बनाने का यही सबसे सीधा रास्ता है।

* चीनी बेल फ्लावर, आरारुट, थरोवॉर्ट (हड्डियों को जोड़ने वाली बूटी), वेलेरिएनिसया, बुश तिपतिया, जंगली फ्रिन्जड पिंक तथा जापानी पम्पास घास।

सिर्फ प्रकृति की सेवा करो, सबका कल्याण होगा

बेलगाम कामना ही दुनिया की मौजूदा दुविधा का मूल कारण है।

धीमे के बदले तेज़, कम के बजाय अधिक—ऐसा भड़कीला "विकास" भविष्य में समाज के चरमरा कर गिरने से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है। इससे इंसान प्रकृति से कटता गया है। मानवता को भौतिक वस्तुओं की इस कामना और व्यक्तिगत फायदे से परे हटना होगा और आध्यात्मिक चेतना की ओर बढ़ना होगा।

कृषि कर्म को भारी-भरकम मशीनी काम से बदल कर ऐसे छोटे-छोटे खेतों का रूप लेना होगा जो केवल जीवन से ही जुड़े हों। भौतिक जीवन और खान-पान को बस एक सीधा-सादा दर्जा देना होगा। अगर ऐसा कर दिया जाए तो काम करना सुखद बन जाता है और आध्यात्मिक साँस लेने की खूब जगह निकल आती है।

किसान जितने बड़े स्तर पर अपना काम फैलाता है, उतना ही अधिक उसका शरीर, उसकी आत्मा, थकती है और वह आध्यात्मिक रूप से संतोषजनक जीवन से दूर छिटकता जाता है। लघु-स्तर पर काम करने वाले एक किसान का जीवन आदिम लग सकता है, परन्तु ऐसा जीवन महा पथ* पर मनन करने की संभावना को बढ़ाता भी है। मेरा मानना है कि अगर व्यक्ति अपने आस-पड़ौस और रोज़मर्रा के उस साधारण जीवन की थाह पा ले, जिसमें वह रहता है, तो एक वृहत्तर दुनिया उसके सामने प्रकट होगी।

साल के अंत में गुज़रे ज़माने का किसान जनवरी, फरवरी और मार्च के महीने पहाड़ों पर खरगोशों का शिकार करते गुज़ारा करता था। हालाँकि उसे गरीब किसान कहा जाता था फिर भी उसके पास इस तरह की आज़ादी थी।

नव वर्ष की उसकी छुट्टियाँ तीन महीने लंबी होती थीं। क्रमश: यह दो महीने, तब एक महीने और अब तो सिर्फ तीन दिन की छुट्टियों में तब्दील हो गई हैं।

नव वर्ष की छुट्टियों का सिकुड़ते जाना यह संकेत देता है कि किसान कितना व्यस्त हो गया है और वह अपनी बेफिक्री, अपना शारीरिक और आध्यात्मिक कुशलक्षेम खो चुका है। आधुनिक खेतीबारी में उसके पास कोई कविता लिखने या गीत रचने का समय नहीं है।

* आध्यात्मिक चेतना का पथ, जिसमें रोज़मर्रा की साधारण से साधारण गतिविधियों पर सावधानी से ध्यान दिया जाता है।

उस रोज़ जब मैं गाँव का नन्हा मंदिर साफ कर रहा था तो यह देख कर चकित हुआ कि दीवार पर कुछ तख्तियाँ लटकी हैं। मिट्टी झाड़ मैंने हलके, लगभग मिट चुके अक्षरों को देखा, मुझे दर्जनों 'हाइकू' कविताएँ "नज़र आईं। इस जैसे छोटे-से गाँव में भी बीस-तीस लागों ने हाइकू रचे थे ओर उन्हें देवताओं को अर्पित किया था। तो पुराने ज़माने में लोगों के जीवन में इतना समय हुआ करता था। कुछ कविताएँ शताब्दियों पुरानी थीं। अब क्योंकि बात इतनी पुरानी है, तो वे संभवत: गरीब किसान रहे होंगे, पर फिर भी उनके पास हाइकू लिखने की फुर्सत थी।

आज इस गाँव में ऐसा कोई नहीं है, जिसके पास कविता लिखने लायक फुर्सत हो। ठंडे सर्दियों के महीनों में भी कुछ ही गाँववासी एक-दो दिन के लिए खरगोशों की तलाश में निकल पाते हैं। फुर्सत के पलों में टेलीविजन ही ध्यान का केंद्र बना रहता है और सीधे-सरल तरीके, जो किसान के दैनिक जीवन को खुशहाल बनाया करते थे, उनके लिए समय ही नहीं बचता। जब मैं कहता हूँ कि कृषि आध्यात्मिक रूप से विपन्न और कमज़ोर हो गई है, तो ठीक यही मेरा तात्पर्य है। उसका सरोकार केवल भौतिक विकास से रह गया है।

ताओ संत लाओत्सू कहते हैं कि एक नन्हे-से गाँव में भी संपूर्ण और अच्छा जीवन जिया जा सकता है। बोधिधर्म, जिन्होंने झेन धर्म की स्थापना की थी, नौ साल तक बिना इधर-उधर हड़बड़ाए, एक गुफा में रहे थे। पैसा बनाने, काम फैलाने, विकास करने, नकदी फसलें उगाने ओर उन्हें बाहर भेजने की चिंता में डूबे रहना किसान का रास्ता नहीं है। वर्तमान में मौजूद रहना, अपने छोटे खेत की देखभाल करना, हर दिन की आज़ादी और उसकी सम्पन्नता पर पूरी तरह काबिज़ रहना यही शायद खेती का मूल तरीका रहा होगा।

अनुभव को दो-फाड़ कर एक हिस्से को भौतिक और दूसरे को आध्यत्मिक कहना उसे संकरा और भ्रामक बनाना है। लोग केवल भोजन पर निर्भर नहीं रह जाते। अंतत: हम यह जान तक नहीं सकते कि भोजन क्या है। बेहतर हो कि लोग खाने के बारे में सोचना तक छोड़ दें। इसी तरह अच्छा

"जापानी शैली की संक्षिप्त कविताएँ जिनमें कुछ ही शब्दों में भारी अर्थ समाया होता है।"

हो कि लोग 'जीवन का वास्तविक अर्थ' तलाशने की चिंता भी छोड़ दें। इन महान आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर हम कभी जान नहीं सकते, पर "उन्हें न समझ पाना भी ठीक है"। हमने जन्म लिया है और धरती पर इसलिए जी रहे हैं कि जीने की वास्तविकता का प्रत्यक्ष सामना करें।

जीवन जीना जन्मने के परिणाम से अधिक कुछ नहीं है। जीने के लिए जो कुछ खाते हैं, जीने के लिए जो उन्हें खाना चाहिए, इस बारे में लोग जो कुछ भी सोचते हैं, वह उनके द्वारा सोचे गये से अधिक कुछ है ही नहीं। इस दुनिया का अस्तित्व ही ऐसा है कि अगर लोग मानवीय इच्छाशक्ति को परे रख दें और प्रकृति का मार्गदर्शन स्वीकार लें तो भूखों मरने की अपेक्षा करने का कोई कारण ही नहीं है।

सिर्फ यहाँ और इस पल में जीना – यही मानवीय जीवन का सच्चा आधार है। जब अधकचरा वैज्ञानिक ज्ञान जीने का आधार बन जाता है तो लोग ऐसे जीने लगते हैं मानो वे केवल माँड (स्टार्च), वसा और प्रोटीन पर निर्भर हों और पेड़-पौधे नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश पर।

वैज्ञानिक प्रकृति की कितनी भी जाँच-पड़ताल क्यों न कर लें, कितनी ही गहरी शोध क्यों न करें, अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रकृति वास्तव में किस कदर संपूर्ण और रहस्यमय है। यह मानना कि शोध और आविष्कार से मानवता प्रकृति से बेहतर कुछ बना सकती है, एक भ्रम से अधिक कुछ नहीं है। मैं सोचता हूँ कि लोग केवल यह जानने मात्र के लिए जूझते रहते हैं जिसे आप प्रकृति की विशाल अज्ञेयता ही कह सकते हैं।

अतः किसान का काम है, प्रकृति की सेवा-चाकरी करना और तब सब-कुछ सही रहेगा। खेतीबारी एक पवित्र काम हुआ करता था। जब मानवता इस आदर्श से दूर छिटकी, आधुनिक व्यावसायिक कृषि उभर आई। जब किसान पैसों के लिए फसल उगाने लगा, वह कृषि के सच्चे सिद्धान्त भूल गया।

यह सच है कि व्यापारी की समाज में एक भूमिका है, पर व्यापारिक गतिविधियों की महिमा बखानने की प्रवृत्ति के चलते लोग जीवन के असली स्रोत को पहचानने से दूर हो जाते हैं। एक पेशे के रूप में खेतीबारी, जो प्रकृति में ही स्थित है, इस स्रोत के बहुत करीब है। कई किसान प्राकृतिक परिवेश में काम करते तथा उसी में जीते हुए भी प्रकृति से अनभिज्ञ रहते हैं, पर मुझे लगता यह है कि खेतीबारी प्रकृति के प्रति अधिक चिंतन होने की तमाम संभावनाएँ उपलब्ध करवाती है।

'पतझड़, हवा या बरसात लाएगी या नहीं, यह मैं नहीं जान सकता, पर आज मैं खेतों में काम करूँगा' ये एक पुराने ग्रामीण गीत के शब्द हैं। ये शब्द जीवन जीने की एक विधि के रूप में खेती की सच्चाई को अभिव्यक्त करते हैं। फसल अंततः चाहे कैसी भी हो, खाने लायक अनाज हो या न हो, पर बीज बोने में, प्रकृति के मार्गदर्शन में पौधों की देखभाल करने में आनंद है।

कुदरती खेती के विभिन्न प्रकार

मुझे 'काम' शब्द खास पसन्द नहीं है। मनुष्य ही एकमात्र प्राणी हैं जिन्हें काम करना पड़ता है, और मुझे लगता है यह दुनिया की सबसे बेतुकी चीज़ है। शेष पशु अपनी आजीविका जीने मात्र से चलाते हैं, पर इंसान पागलों की तरह खटता है, यह सोच कर कि ज़िन्दा बचे रहने के लिए ऐसा करना ज़रूरी है। जितना बड़ा काम हो, जितनी भारी चुनौती हो, लोग उतना ही उम्दा उसे मानते हैं। सोचने के इस तरीके को त्याग कर एक आसान, आरामदेह जीवन जीना बेहतर है, जिसमें खूब खाली समय हो। मुझे लगता है कि जिस तरह पशु ऊष्ण कटिबन्ध में रहते हैं, सुबह-शाम निकल खाने के लिए कुछ तलाशते हैं और दोपहर को देर तक झपकी लेते हैं, वह ज़रूर एक बेहद अच्छी ज़िन्दगी होती होगी।

मनुष्य के लिए ऐसा सरल-सादा जीवन तब सम्भव होगा जब वह सीधे अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादन करे। ऐसे जीवन में काम ठीक वैसा नहीं होता जैसी लोगों की उसके बारे में आम धारणा है, बल्कि केवल उतना-भर करने में तब्दील हो जाता है जिसे करने की ज़रूरत हो।

मेरा लक्ष्य इसी दिशा में चीज़ों को बढ़ाना है। यह उन सात-आठ नौजवानों का भी लक्ष्य है जो पहाड़ों पर बनी कुटियों में साथ-साथ रहते हैं और खेतीबारी के काम में मदद करते हैं। ये नौजवान किसान बनना चाहते हैं, नए गाँव और समुदाय बसाना चाहते हैं, और इस तरह की जीवनशैली को आज़माना चाहते हैं। वे मेरे खेत पर आ खेतीबारी के उन व्यावहारिक कौशलों को सीखना चाहते हैं जिनकी इस योजना को लागू करने में उन्हें ज़रूरत पड़ेगी।

अगर आप देश पर नज़र दौड़ाएं तो आप पाएँगे कि हाल में कई साझा समुदाय उभरने लगे हैं। अगर उन्हें 'हिप्पी समुदाय' कहा जाता है, तो शायद इस नज़र से भी उन्हें देखा जा सकता है। पर साथ-साथ जीते और काम करते हुए वे प्रकृति की ओर लौटने का रास्ता तलाश रहे हैं, वे 'नए किसान' का आदर्श हैं। वे यह समझते हैं कि अगर उन्हें अपनी जड़ें मजबूती से जमानी हैं, तो उन्हें अपनी ही ज़मीन की उपज पर जीना होगा। जो समुदाय अपना भोजन खुद नहीं उपजा सकता, वह ज्यादा समय टिकेगा भी नहीं।

इनमें से कई नौजवान भारत की यात्रा पर जाते हैं, या फ्रान्स में स्थित गाँधीग्राम की राह पकड़ते हैं, वे इज़रायल की किसी किबुत्ज़ में समय बिताते हैं, या पश्चिमी अमरीका की पहाड़ियों या रेगिस्तानों

में बसे कम्यूनों को देखने जाते हैं। दक्षिण जापान के तोकारा द्वीप श्रृंखला के सुवानोसे द्वीप के समूह जैसे समूह भी हैं जो नई तरह के पारिवारिक जीवन और कबीलाई जीवनशैली की घनिष्ठता को अनुभव करना चाहते हैं। मैं सोचता हूँ कि इन मुट्ठी-भर लोगों का आंदोलन हमें बेहतर समय की दिशा में ले जाएगा। इन्हीं लोगों के बीच प्राकृतिक खेती तेज़ी से जड़ें जमा रही है और रफ्तार पकड़ रही है।

इसके साथ, विभिन्न धार्मिक समूह भी प्राकृतिक कृषि को अपनाने की ओर बढ़े हैं। मानव की मूल प्रकृति की तलाश में आप चाहे जिस किसी रास्ते को अपनाएँ, शुरुआत आपको स्वास्थ्य पर सोचने से ही करनी पड़ती है। जो पथ सही चेतना की ओर ले जाता है, उसमें हर दिन को सीधे-सरल तरीके से जीने और समग्र प्राकृतिक भोजन उगाने व खाने का अभ्यास करना पड़ता है। जाहिर है कि ऐसी परिस्थिति में कई लोगों के लिए प्राकृतिक कृषि से शुरुआत करना सबसे अच्छा है।

मैं खुद किसी धार्मिक समूह का नहीं हूँ और अपने विचारों की खुली चर्चा सबके साथ करता हूँ। मुझे ईसाई, बौद्ध, शिन्टो या अन्य धर्मों में भेदभाव करना पसन्द नहीं है, पर मुझे यह ज़रूर आश्चर्यजनक लगता है कि गहरी धार्मिक आस्थाओं वाले लोग मेरे खेतों के प्रति आकर्षित होते हैं। मुझे लगता है कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि प्राकृतिक कृषि, दूसरी तरह की कृषि के विपरीत एक ऐसे दर्शन पर टिकी है जो भू-विश्लेषण, पीएच और फसल की मात्रा के सरोकारों के परे बेधता है।

कुछ समय पहले पेरिस के जैविक उद्यानिकी केंद्र का एक व्यक्ति पहाड़ चढ़ आया और हमने वह दिन बातचीत में गुज़ारा। फ्रान्स के हालचाल सुनते समय मैंने जाना कि वे अंतराष्ट्रीय स्तर पर जैविक कृषि के एक सम्मेलन की योजना बना रहे हैं, उसी सम्मेलन की तैयारी में वह फ्रांसीसी दुनिया-भर के जैविक व प्राकृतिक फार्मों का दौरा कर रहा है। मैंने उसे फल-बागान दिखाया और तब हम मगवर्ट बूटी के चाय के प्याले लेकर बैठे और मेरे पिछले तीसेक साल के अवलोकनों की चर्चा करने लगे।

पहले मैंने कहा कि अगर पश्चिम में लोकप्रिय जैविक कृषि के सिद्धान्तों को देखें तो पाएँगे कि उनमें और परंपरागत पूर्वी (प्राच्य) कृषि में, जैसे चीन, कोरिया या जापान में सैंकड़ों सालों से की जाती थी, खास अंतर नहीं है। माई और ताइशो युग* तक के सभी जापानी किसान ठीक इसी तरह की खेती करते थे और यही स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक भी थी।

खेती की यह प्रणाली भी जैविक खाद (कॉम्पोस्ट) के उपयोग तथा मानव व पशु मल के पुनर्उपयोग के मूलभूत महत्व पर बल देती थी। प्रबन्ध व्यवस्था सघन होती थी और उसमें बदल-बदल कर फसलें उगाना, सह-बुआई और हरी खाद जैसी चीजें शामिल थीं। क्योंकि स्थान सीमित था, खेत कभी खाली नहीं छोड़े जाते थे और समय से बुआई और कटाई का काम होता था। फसल निकालने के बाद जो भी जैविक सामग्री बचती, उसे कम्पोस्ट में बदल खेतों को लौटा दिया जाता था। जैविक खाद के उपयोग को आधिकारिक रूप से प्रोत्साहित किया जाता था और कृषि अनुसंधान का मुख्य सरोकार जैविक पदार्थ और कम्पोस्ट बनाने की तकनीक हुआ करता था।

* 1868-1926

सो आधुनिक युग के आगमन तक जापान में कृषि की मुख्यधारा ऐसी थी जो पशुओं, फसलों और मानव को परस्पर जोड़ती थी। यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में जिस तरह जैविक कृषि की जाती है उसका प्रस्थान बिन्दु पूरब की परंपरागत खेती है।

मैंने आगे कहा कि कुदरती खेती में दो तरह की विधियों में अंतर किया जा सकता है: व्यापक लोकातीत प्राकृतिक कृषि और सापेक्ष दुनिया* की संकरी प्राकृतिक कृषि। अगर बौद्ध शब्दावली का उपयोग करने पर बाध्य किया जाए तो इन दोनों को क्रमशः महायानी व हीनयानी प्राकृतिक कृषि कहा जा सकता है।

व्यापक महायानी प्राकृतिक कृषि तब स्वयं अवतरित होती है जब मनुष्य और प्रकृति में एकता हो। वह प्रकृति जैसी है उसी का अनुपालन करती है और मस्तिष्क को वैसी लगती है जैसी वह दरअसल है। यह इस आस्था से निगमित होती है कि अगर व्यक्ति अस्थाई रूप से मानवीय इच्छाशक्ति को त्याग दे और स्वयं को प्रकृति द्वारा निर्देशित होने दे, तो प्रकृति प्रतिक्रिया में उसे सब-कुछ उपलब्ध करवाती है। लोकातीत की एक सरल उपमा होगी कि मानव और प्रकृति के संबंध की तुलना ऐसे पति-पत्नी से की जाए जो एक विशुद्ध विवाह में परस्पर बंधे हों। ऐसा विवाह न करवाया जाता है, न किया ही जाता है, बल्कि वह जोड़ा तो अपने आप ही अस्तित्व में आता है।

इसके विपरीत संकीर्ण प्राकृतिक खेती मानो प्रकृति की राह पर चलना है। वह आत्मसजगता के साथ जैविक व अन्य उपाय करती है ताकि प्रकृति का अनुसरण कर सके। खेती एक उद्देश्य के लिए की जाती है। यद्यपि प्रकृति के प्रति वास्तविक प्रेम होता है, पूरी गंभीरता से उसके सामने प्रस्ताव रखा जाता है, पर यह संबंध प्रयोगात्मक होता है। आधुनिक औद्योगिक खेती दैवी ज्ञान की इच्छा, उसका अर्थ समझे बिना रखती है और साथ ही प्रकृति का उपयोग भी करना चाहती है। अपनी अशांत तलाश के दौरान उसे कोई ऐसा नहीं मिलता जिसके सामने वह प्रस्ताव रख सके।

कुदरती कृषि की संकीर्ण दृष्टि यह कहती है कि किसान मिट्टी में जैविक पदार्थ मिलाएँ, यह अच्छा है, पशुओं को पालना भी अच्छा है और प्रकृति के उपयोग का सबसे अच्छा और प्रभावी तरीका है। व्यक्तिगत व्यवहार की दृष्टि से यह ठीक है, पर इसी तरीके से वास्तविक प्राकृतिक कृषि की आत्मा को जीवित नहीं रखा जा सकता। इस तरह की संकीर्ण प्राकृतिक खेती तलवारबाज़ी की उस शैली के समान है जिसे एक वार-शैली कहा जाता है, जिसमें तकनीक के कौशल पर आत्मसजग उपयोग से जीतने की कोशिश की जाती है। आधुनिक कृषि दो-वार शैली का अनुसरण करती है जो यह मानती है कि तड़ातड़ तलवार के वार बरसा कर विजय हासिल की जा सकती है।

विशुद्ध प्राकृतिक कृषि इनके विपरीत बिना-वार-शैली है। वह कहीं पहुँचना नहीं चाहती, कोई विजय नहीं चाहती। इसी 'कुछ नहीं करने' को व्यवहार में उतारना ही वह चीज़ है जो किसान को हासिल करनी है। लाओत्ज़ु ने निष्क्रिय प्रकृति की बात की थी, मैं सोचता हूँ कि अगर वे किसान होते

* यही वह दुनिया है जिसे बुद्धि समझती है।

तो निश्चित रूप से प्राकृतिक कृषि ही करते। मेरा मानना है कि गाँधीजी का रास्ता, पद्धतिहीन पद्धति, जीतने की कामनाहीन, विरोधहीन मानसिक स्थिति प्राकृतिक कृषि के समान है। जब यह समझ लिया जाएगा कि जब व्यक्ति आनंद और उल्लास पाने की कोशिश में उन्हें खो देता है तो प्राकृतिक खेती का सार साकार हो जाता है। कृषि का अन्तिम लक्ष्य फसल उगाना नहीं है बल्कि मनुष्य को परिष्कृत कर उसे परिपूर्ण बनाना है।*

* इस अनुच्छेद में श्री फुकुओका किसी लक्ष्य की दिशा में सचेतन प्रयासों के लिए अपनाई गई तकनीकों तथा उन तकनीकों में अंतर कर रहे हैं जो व्यक्ति को तब सहज रूप से सूझती हैं, जब वह प्रकृति के साथ पूर्ण समन्वय में जीता हुआ अपने रोज़मर्रा के काम करता है, और अपनी इच्छा करने वाली बुद्धि के चंगुल से पूर्णतः मुक्त होता है।
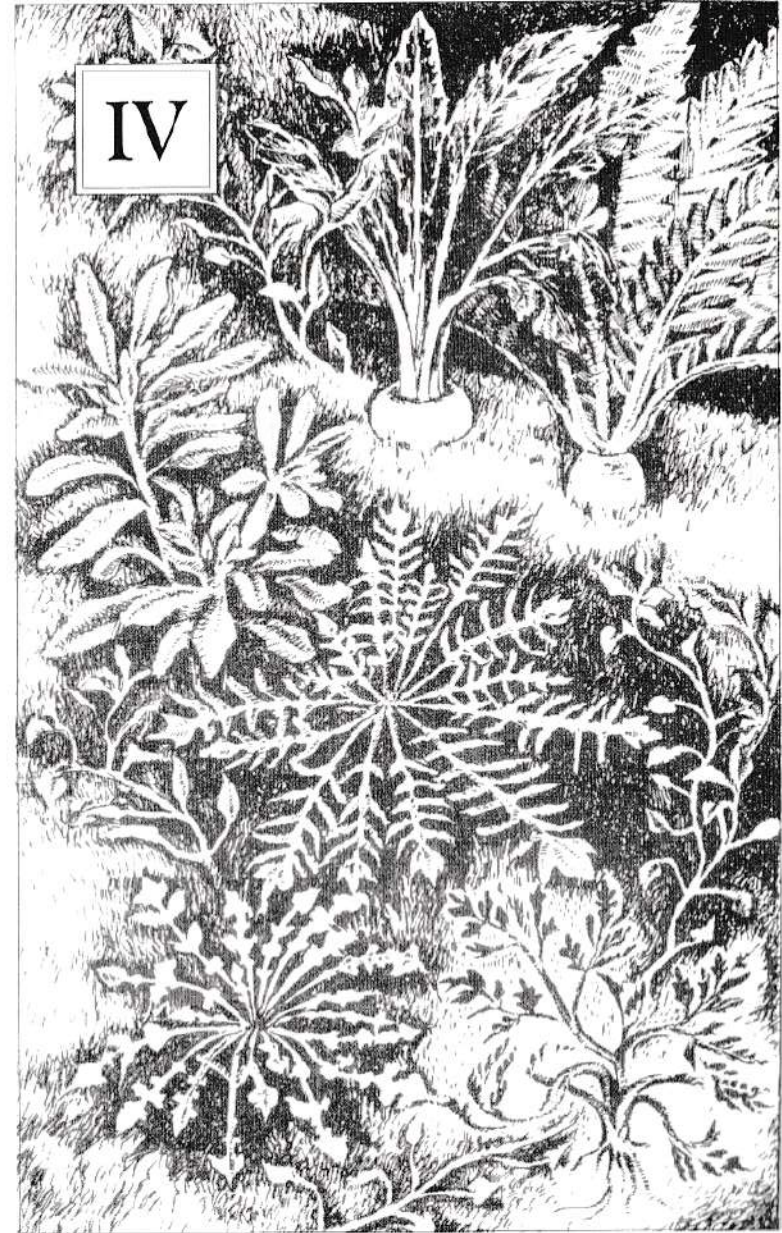
भोजन के विषय में भ्रांतियाँ

इस पहाड़ में बनी कुटियों में से एक में पिछले तीन सालों से रह रहे एक नौजवान ने एक रोज़ कहा, "पता है, जब लोग 'प्राकृतिक भोजन' की बात कहते हैं तो मुझे अब उनका मतलब ही नहीं समझ आता।"

सच में, अगर आप सोचें तो लगेगा कि लगभग सभी लोग "प्राकृतिक भोजन" शब्दों से परिचित हैं, पर फिर भी वह दरअसल है क्या, यह साफ-साफ कोई नहीं समझता। कई लोगों को लगता है कि जिस खाने में कोई रसायन या अलग से खनिज आदि न मिलाए गए हों, वह प्राकृतिक है, और कुछ दूसरे यह समझते हैं कि प्राकृतिक आहार वह है जब प्रकृति में जो-कुछ जैसे मिलता है उसे वैसे ही खाया जाए।

अगर आप पूछें कि खाना पकाने में आग का उपयोग और उसमें नमक मिलाना प्राकृतिक है या अप्राकृतिक, तो दोनों तरह के जवाब मिल सकते हैं। अगर आदिम युग के लोग जंगलों में मिलने वाले कंद-मूल और पशुओं को जैसे खाते थे उसे 'प्राकृतिक' कहें, तो नमक ओर आग के उपयोग से बने भोजन को हम प्राकृतिक नहीं कह सकते। परन्तु अगर यह तर्क किया जाए कि प्राचीन युग में आग व नमक के उपयोग की जो खोज हुई वह मनुष्य की स्वाभाविक नियति थी, तो फिर उनकी मदद से बना भोजन भी प्राकृतिक कहलाएगा। खाना बनाने की जो तकनीकें मनुष्य ने ईजाद की हैं, उनसे पकाया गया भोजन अच्छा है या फिर जो-कुछ प्रकृति में जिस अवस्था में मिलता है उसे उसके जंगली स्वरूप में खाने को सही माना जाना चाहिए? क्या खेतीबारी से जो फसलें उगाई जाती हैं उन्हें प्राकृतिक कहा जा सकता है? प्राकृतिक और अप्राकृतिक की बीच की रेखा हम कहाँ खीचे?

यह कहा जा सकता है कि जापान में 'प्राकृतिक आहार' के जुमले का सूत्रपात माइजी युग में सागेन ईशीज़ुका की शिक्षाओं से हुआ। उनके सिद्धान्त को बाद में श्री साकुराज़ावा* तथा श्री निकि ने संशोधित और विस्तृत किया। पश्चिम में मैक्रोबायोटिक्स नाम से जो पोषण की राह ज्ञात है, वह ई चिंग के यिनऱ्यांग अवधारणाओं में निहित अद्वैत पर आधारित है। क्योंकि सामान्यत: इसका मतलब होता है भूरे चावल का आहार, आमतौर पर यह माना जाता है कि 'प्राकृतिक आहार' का मतलब है साबुत अन्न और सब्जियाँ खाना। परन्तु प्राकृतिक भोजन को हम निरे भूरे चावलों का शाकाहारी आहार कह कर नहीं समेट सकते।

*जार्ज ओसावा।

तो फिर यह आखिर है क्या?

इन व्यापक भ्रांतियों का कारण यह है कि मानवीय ज्ञान के दो रास्ते हैं – विभेदक व अविभेदक?* सामान्यत: लोग यह मानते हैं कि दुनिया को केवल विभेदक दृष्टि से देख कर उसे पूरी तरह पहचाना-समझा जा सकता है। अत: जब हम 'प्रकृति' शब्द का जैसा सामान्य उपयोग करते हैं, वह उस प्रकृति के लिए किया जाता है जिसे हम विभेदात्मक बुद्धि से देखते-पहचानते हैं।

मैं प्रकृति की मानवीय बुद्धि द्वारा रचित खोखली छवि को नकारता हूँ और उसमें तथा स्वयं प्रकृति में स्पष्ट अंतर करता हूँ, जिसे केवल अविभेदात्मक समझ से ही अनुभूत किया जा सकता है। अगर हम प्रकृति की इस गलत अवधारणा को नष्ट कर दें, तो मेरा विश्वास है कि दुनिया से अव्यवस्था की जड़ ही गायब हो जाएगी।

पश्चिम में प्राकृतिक विज्ञान विभेदात्मक ज्ञान से विकसित हुआ, पूर्व का यिन-यांग दर्शन और आई चिंग का दर्शन भी उसी स्रोत से निकला है। परन्तु वैज्ञानिक सत्य चरम सत्य तक कभी नहीं पहुँच पाता, और आखिरकार दर्शन दुनिया की व्याख्या से अधिक कुछ है भी नहीं। वैज्ञानिक ज्ञान के रूप में प्रकृति को हम जितना पकड़ या समझ पाते हैं, वह तो उतना-भर होता है जो नष्ट हो गया हो, वह तो एक भूत भर है जिसका एक कंकाल तो है पर, आत्मा नहीं । दार्शनिक ज्ञान द्वारा जिस प्रकृति को पकड़ा या समझा जाता है वह इंसानी अटकल से बना सिद्धान्त होता है, आत्मा वाला एक भूत, जिसका कोई ढाँचा न हो।

अविभेदात्मक ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र तरीका है प्रत्यक्ष सहजबोध (इन्ट्यूशन), पर लोग उसे परिचित रूपरेखा में रखने की कोशिश में 'सहज प्रवृत्ति' (इन्स्टींक्ट) कहते हैं। यह दरअसल ऐसा ज्ञान है जिसका स्रोत 'अनाम' है। अगर प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को देखना हो तो आपको विभेदात्मक मस्तिष्क को त्याग कर सापेक्ष दुनिया के परे उठना होगा। प्रारम्भ से न तो पूरब-पश्चिम है, न चार ऋतुएँ, न यिन या यांग।

जब मैं यहाँ तक पहुँचा तो उस युवक ने पूछा, "इसका मतलब हुआ कि आप न केवल प्राकृतिक विज्ञान को नकारते हैं, बल्कि यिन-यांग व आई चिंग पर आधारित प्राच्य दर्शनों को भी नकारते हैं?"

मैंने कहा कि अस्थाई व्यावहारिक युक्तियों या दिशासूचकों के रूप में उनका मूल्य माना जा सकता है, परन्तु उन्हें सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ नहीं मानना चाहिए। वैज्ञानिक सत्य और विभिन्न दर्शन, सापेक्ष दुनिया की अवधारणाएँ हैं, और वहीं पर वे सच ठहरती हैं, उनका मूल्य पहचाना जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिक लोग सापेक्ष दुनिया में रहते हैं, प्राकृतिक व्यवस्था में खलल डालते हैं

* यह अंतर कई पूर्वी दार्शनिक करते हैं। विभेदक ज्ञान तक हम तब पहुँचते हैं जब हम अनुभवों को एक तार्किक रूपरेखा में रखने के लिए विश्लेषणात्मक इच्छामूलक बुद्धि के माध्यम से पहुँचते हैं। श्री फुकुओका मानते हैं कि इस प्रक्रिया में व्यक्ति स्वयं को प्रकृति से अलग करता है। यह वही सीमित वैज्ञानिक सत्य और फैसले सम्बन्धी बात है जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई थी।

अविभेदात्मक ज्ञान व्यक्ति के सचेतन प्रयास से तब उपजता है जब अनुभव को बुद्धि की व्याख्या के बिना जस का तस स्वीकारा जाता है।

हालाँकि विभेदात्मक ज्ञान विश्व की व्यावहारिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए आवश्यक है, श्री फुकुओका मानते हैं कि अंतत: वह एक बेहद सीमित नज़रिया ही उपलब्ध करवाता है।

और स्वयं अपनी ही आत्मा व शरीर का विध्वंस करते हैं, पुनः व्यवस्था स्थापित करने में यिन-यांग प्रणाली उनको प्रभावी दिशासंकेत दे सकती है।

ऐसे रास्तों को उपयोगी सिद्धान्त कहा जा सकता है, जो लोगों को संक्षिप्त व समग्र आहार तक पहुँचने में तब तक मदद करते हैं, जब तक एक प्राकृतिक आहार तक न पहुँचा जा सके। परन्तु अगर आप यह समझ गए हों कि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य सापेक्ष दुनिया से परे, उसके ऊपर उठना है, मुक्ति के क्षेत्र में खेलना है, तब किसी सिद्धान्त से जुड़े घिसटते जाना दुर्भाग्यपूर्ण है। अर्थात् जब व्यक्ति उस स्थिति में पहुँच जाए जहाँ यिन तथा यैंग अपने मूल में पहुँच चुके हों तो इन प्रतीकों का ध्येय भी समाप्त हो जाता है।

एक नौजवान जो अभी-अभी आया ही था, बोल पड़ा, 'तो इसका मतलब यह हुआ कि अगर कोई प्राकृतिक व्यक्ति बन जाए तो वह जो चाहे खा सकता है?'

अगर आप इस उम्मीद को सहेजे रहते हैं कि अंधेरी गुफा के अंत में प्रकाश मिलेगा, तो अंधकार लंबे समय तक बना रहता है। जब स्वादिष्ट खाने की इच्छा ही न हो, तब जो-कुछ आप खाएँगे उसका वास्तविक स्वाद और महक आपको पता चलेगी। प्राकृतिक आहार का सीधा-सादा खाना मेज़ पर परोस देना आसान है, पर ऐसे भोजन का सच में आनंद ले पाने वाले बहुत कम हैं।
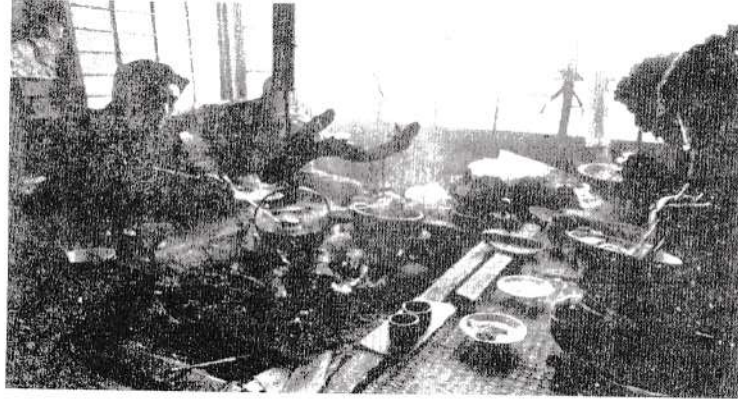
सूप-चावल व सब्जियों के अचार के साथ दोपहर का भोजन।

प्रकृति का खाद्य मण्डल

प्राकृतिक भोजन पर मेरी सोच ठीक वैसी है, जैसी कुदरती खेती के बारे में है। प्राकृतिक कृषि प्रकृति के नियमों का जस का तस पालन करती है, अर्थात् अविभेदात्मक मस्तिष्क उसे जैसा समझता है उसी का पालन करती है। ऐसे में प्राकृतिक आहार उस सबसे बना होता है जो जंगली स्थिति में उगे या प्राकृतिक खेतीबारी से उगाए गए खाद्य पदार्थों को एकत्र कर या प्राकृतिक तरीके से मछलियों को पकड़ कर मिलते हैं। अर्थात् जो कुछ भी अविभेदात्मक बुद्धि के माध्यम से बिना किसी मंशा के किये गये काम से पाया जाता है। हालाँकि मैं बिना मंशा के कृत्यों और अ-विधि की बात करता हूँ फिर भी समय के साथ रोज़मर्रा के जीवन से प्राप्त ज्ञान को स्वीकारता भी हूँ। नमक का उपयोग, पकाने में आग का उपयोग, आदि की आलोचना कर कहा जा सकता है कि मानव प्रकृति को अलग-अलग करने की दिशा में यह पहला चरण है, परन्तु यह तो वह प्राकृतिक ज्ञान है जिसे आदिम लोगों ने पाया था, अतः इसे तो ऐसा ज्ञान मानना चाहिए जो किसी दैवी-शक्ति से मिला हो।

जो फसलें हज़ारों या दसियों हज़ारों वर्ष से इंसानों के साथ रहती रही हैं, उन्हें केवल विभेदात्मक ज्ञान का उत्पाद नहीं कहा जा सकता, बल्कि प्राकृतिक रूप से उपलब्ध खाद्य माना जा सकता है। परन्तु जो तत्काल बदली गई किस्में हैं, जो प्राकृतिक परिस्थितियों में क्रमिक रूप से विकसित नहीं हुई हैं, परन्तु उस कृषि विज्ञान द्वारा विकसित की गई हैं, जो प्रकृति से बेहद दूर जा चुका है, या जो मछलियाँ, झींगा व घरेलू पशु, व्यापक-उत्पादन विधियों से बड़ी संख्या में बने हैं, वे इस श्रेणी से बाहर हैं।

खेती करना, मछली मारना, पशुपालन, रोटी, कपड़ा, मकान और आध्यात्मिक जीवन की रोज़मर्रा की वास्तविकताएँ, अर्थात् जो-कुछ भी गतिविधियाँ हैं – उन्हें प्रकृति के साथ एकता में, तादात्मय में होना चाहिए।

मैंने कुछ रेखाचित्र बनाए हैं, जो प्राकृतिक आहार को समझाते हैं, उस प्राकृतिक आहार को जो विज्ञान और दर्शन दोनों के परे है। पहला रेखाचित्र (डायग्राम) उन खाद्य पदार्थों को दर्शाता है जो सबसे आसानी से मिलते हैं और उन्हें कमोबेश विभिन्न समूहों में व्यवस्थित किया गया है। दूसरे रेखाचित्र में उन खाद्य पदार्थों को दर्शाया गया है जो अलग-अलग मौसमों, महीनों में उपलब्ध होते हैं। ये दोनों रेखाचित्र प्रकृति के खाद्य मण्डल* को बनाते हैं। इस मण्डल से स्पष्ट होता है कि धरती पर उपलब्ध

* पूर्वी कला व धर्म का एक वृत्ताकार रेखाचित्र जो विषय की संपूर्णता व समग्रता को दर्शाता है।
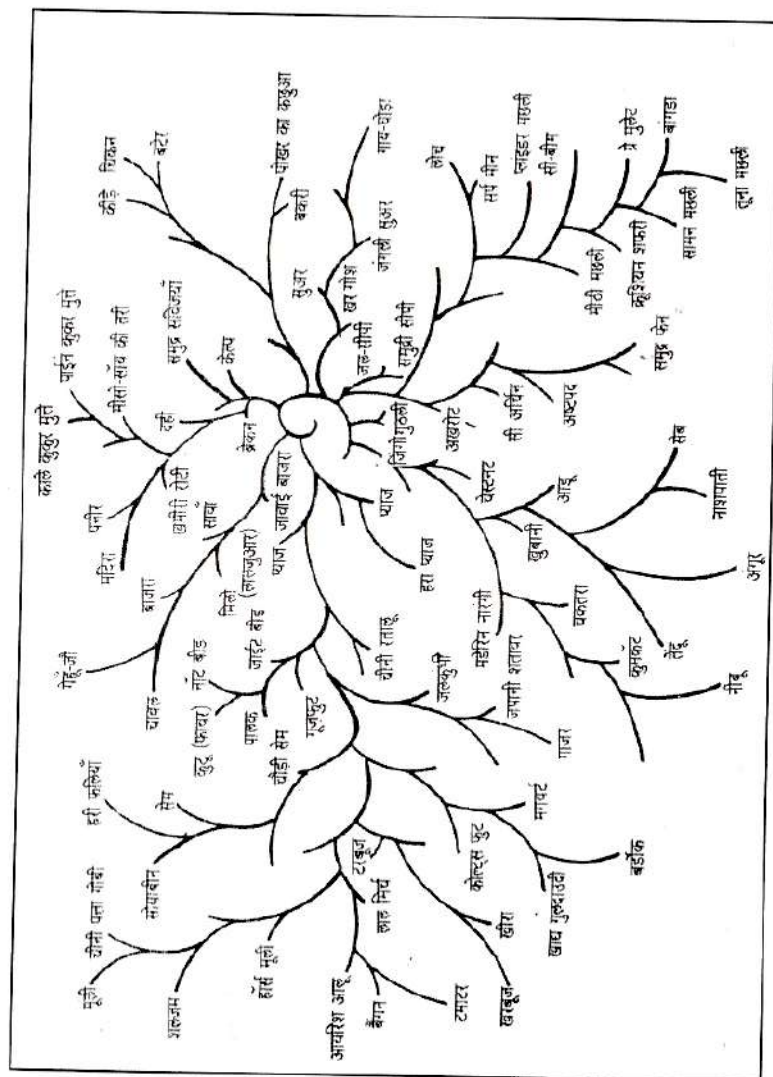
प्राकृतिक खाद्य-मंडल आकृति : एक

खाद्य पदार्थ लगभग असीमित हैं। अगर लोग अपना भोजन 'बुद्धि-प्रयोग के बिना' (नो माइण्ड) पाते हैं; फिर चाहे वे यिन और यांग के बारे में कुछ भी न जानते हों, वे श्रेष्ठतम प्राकृतिक आहार को पा सकते हैं।

जापानी गाँवों में बसे मछुआरों और किसानों की इन रेखाचित्रों में खास रुचि नहीं है। वे तो प्रकृति के नुस्खे के अनुसार अपने ही इलाके के मौसमी खाद्य पदार्थों को चुनते हैं। बसंत की शुरुआत में जब धरती फाड़कर सात जड़ी-बूटियाँ फूटती हैं, किसान सात गंध-स्वाद को चख सकता है। इनकी स्वादिष्ट महकों के साथ उसे तालाबी घोंघे (स्नेल), समुद्री सीपियाँ (सी-क्लैम) और पगड़ी धारी शंख मीन (शैल फिश) मिलती हैं।

हरी पत्तियों का मौसम मार्च में आता है। घोडापूंछी, ब्रैकन, मगवॉर्ट, ऑस्मण्ड व दूसरे पहाड़ी पौधे, और ज़ाहिर है परसिम्मो और आड़ू की कोमल पत्तियाँ, पहाड़ी कंद की ताज़ी फूटी डंठलें भी खाई जा सकती हैं। इनका हलका नाज़ुक स्वाद होता है, उनका लज़ीज़ टैम्पूरा बनाया जा सकता है या मसालों की तरह उपयोग में लाया जा सकता है। समुद्र के किनारे केल्प (समुद्रीघास), नोरी और चट्टानी खरपतवार जैसी समुद्री वनस्पतियाँ होती हैं जो बसंत के महीनों में भारी मात्रा में मिलती हैं और बेहद स्वादिष्ट होती हैं।

जब बाँस नई शाखाएँ निकालता है, उस वक्त धारीदार सूअरमाछ सबसे स्वादिष्ट होती है। आइरिस के फूलों के मौसम का जश्न पतली फीता मच्छी और मैकरल के साशीमी के साथ मनाया जाता है। हरी मटर, स्नो पी लीमा फलियाँ तथा फावा फलियाँ, सीधे फलियों से निकाल कर खाने या साबुत अनाज – जैसे भूरे चावल, गेहूँ या जौ के साथ उबालने पर लज़ीज लगती हैं।

बरसात के मौसम के अंत में* जापानी आडू नमक डाल कर मर्तबानों में रख दिए जाते हैं, और ढेरों स्ट्रॉबेरी व रैस्पबेरी इकट्ठी की जा सकती हैं। स्वाभाविक ही है कि शरीर इस मौसम में स्कैलियन (एक तरह का प्याज) का चुस्त स्वाद और लोकाट, खुबानी, आडू जैसे पनीले फलों की इच्छा करता है। लोकाट के फल ही उसके वृक्ष का एकमात्र खाए जाने लायक भाग नहीं है, उसके बीजों को पीस कर 'कॉफी' बनाई जा सकती है और उसकी पत्तियों की बनी चाय बेहद अच्छी दवा है। आडू तथा परसिम्मो (एक तरह का खजूर) पेड़ों की बड़ी परिपक्व पत्तियाँ आयुवर्धक टॉनिक बनाती हैं।

मध्य गर्मियों के तेज़ सूरज के ताप में किसी बड़े पेड़ की छाया के नीचे खरबूज़ा खाना और शहद चाटना आनंददायक लगता है। गर्मियों की तमाम सब्जियाँ जैसे गाजर, पालक, मूली और खीरा इस समय तैयार हो जाते हैं। गर्मियों में आलस भगाने के लिए शरीर को सब्जियों और तिल के तेल की ज़रूरत होती है।

अगर आप चाहें तो इसे रहस्य कहें कि सर्दियों के अनाज, जो बसंत में काटे जाते हैं, गर्मियों में कम होती जाती भूख के लिए अच्छे रहते हैं। इसी प्रकार गर्मियों में जौ के हर आकार-प्रकार में बने नूडल भी अक्सर पकाए और खाए जाते हैं। जंगली गेहूँ (बक व्हीट) अनाज गर्मियों में कटता है। यह प्राचीन जंगली पौधा है और इस मौसम में उसे खाना अच्छा रहता है।

* जापान के ज्यादातर भागों में बरसात का मौसम जून से मध्य जुलाई तक रहता है।
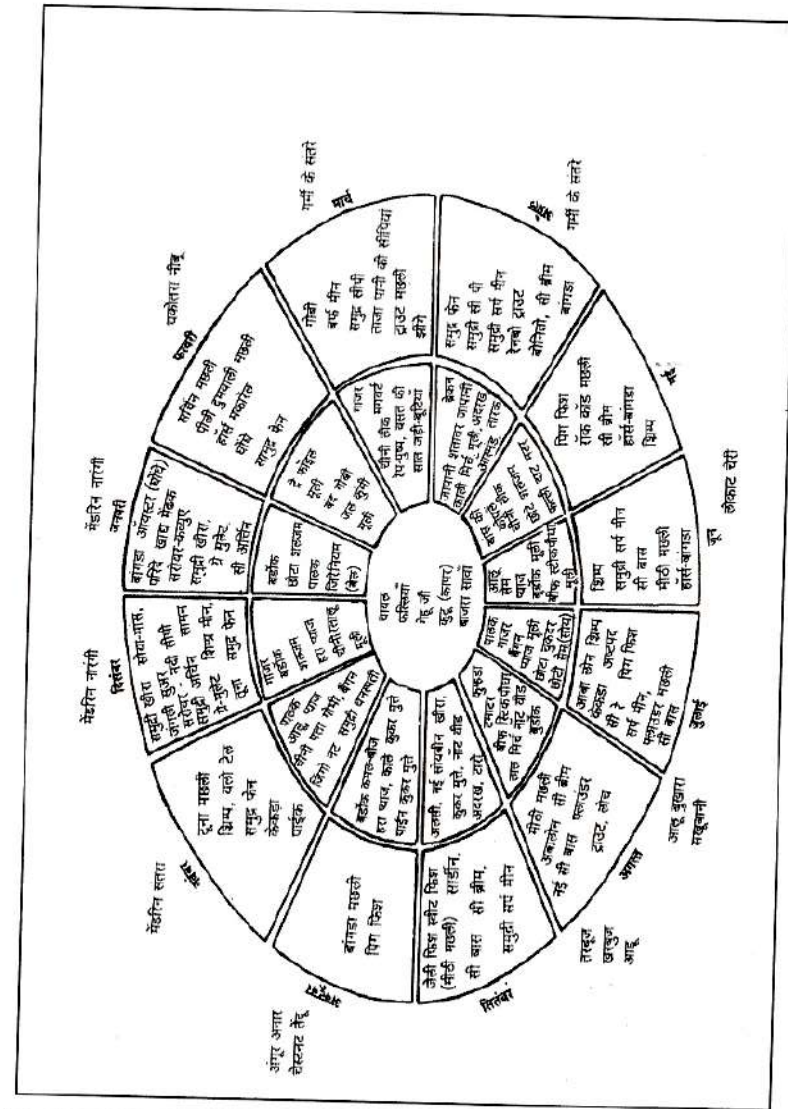
प्राकृतिक खाद्य-मंडल आकृति : दो

पतझड़ की शुरुआत खुशनुमा मौसम होता है जिसमें सोयाबीन और छोटी लाल आज़ूकी फलियाँ, कई फल, सब्ज़ियाँ और पीले अनाज एक साथ पकते हैं।

पतझड़ में चंद्र दर्शन के उत्सव के समय बाजरी के केक का आनंद लिया जाता है। टैरो आलुओं के साथ अधपकी सोयाबीन परोसी जाती है। जैसे-जैसे पतझड़ का मौसम गहराता है, मक्की के दाने और चावल, लाल फलियों, मात्सूता के कुकुरमुत्तों या चेस्टनट के साथ अक्सर खाए जाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गर्मियों भर सूर्यकिरणें सोख जो धान पकता है वह पतझड़ में कटाई के लिए तैयार हो जाता है। इसका मतलब हुआ कि जो मूल आहार है वह भारी मात्रा में उपलब्ध होने लगता है और सर्दियों के महीनों में ऊर्जा (कैलोरी) का स्रोत बनता है।

पहला पाला पड़ा नहीं कि मच्छी पकाने वालों के ठेलों की ओर देखने की इच्छा होने लगती है। गहरे पानी की नीली मछलियाँ, पीली पूंछ वाली तथा टूना मछलियाँ इसी मौसम में पकड़ी जाती हैं। यह रोचक बात है कि इस मौसम में बहुतायत में पाई जाने वाली मूलियाँ और पत्तीदार सब्ज़ियाँ इन मछलियों के साथ बेहद स्वादिष्ट लगती हैं।

नव-वर्ष की छुट्टियों के पकवान अधिकतर उन खाद्य पदार्थों से बनते हैं जिन्हें अचार के रूप में या नमक के साथ संसाधित किया गया हो, खासकर बड़े उत्सव के पकवान, नमकीन साल्मन, हैरिंग के अण्डे, लाल समुद्री ब्रीम, केंकड़े, कैल्प (समुद्री घास) तथा काली फलियाँ कई शताब्दियों से इस उत्सव के भोज के लिए बनाए जाते हैं।

जो शलजम व मूलियाँ खेतों में छोड़ दी गई थीं वे मिट्टी और बर्फ के कम्बल के नीचे दुबके होते हैं, सर्दियों के मौसम में उन्हें खोदना आनंददायक अनुभव होता है। साल के दौरान उगाए गए अनाज और मीसो तथा सोया सॉस मूल आहार के रूप में होते ही हैं। साथ होते हैं पत्तागोभी, मूली, स्क्वॉश, शकरकंद, जिनका पतझड़ में भण्डारण किया गया था वे कड़ी सर्दियों के महीनों में खाने में विविधता लाते हैं। शुक्ति, ऑयस्टर तथा समुद्री खीरे, नाजुक स्वाद के साथ हरे प्याज़ तथा जंगली प्याज़ स्वादिष्ट लगते हैं और बहुतायत में उपलब्ध भी होते हैं।

बसंत के आगमन की प्रतीक्षा करते समय हमें अश्व-खुरा धारा की कोंपलें और स्ट्रॉबेरी जिरेनियम के अंकुर बर्फ से झांकते नज़र आने लगते हैं। जलकुंभी, शेपर्ड्स पर्स, पत्तियों की प्रिय सितपुष्पी (चिक-वीड) व अन्य जंगली बूटियों के लौटने के साथ रसोई की खिड़की के तले ही बसंत की प्राकृतिक सब्ज़ियाँ भी एकत्र की जा सकती हैं।

यों एक विनम्र आहार का पालन करते, विभिन्न मौसमों में उपलब्ध फल, अन्न, सब्ज़ियाँ इकठ्ठा कर उनके स्वास्थ्यवर्धक व पोषक स्वादों का लुत्फ उठाते हुए स्थानीय किसान प्रकृति की सौगातों को स्वीकारते हैं।

गाँववासी भोजन के ज़ायकेदार स्वाद से तो परिचित हैं, पर वे प्रकृति के रहस्यों का स्वाद नहीं ले पाते। पर ना, शायद बात यों कहनी चाहिए कि वे स्वाद तो लेते हैं, पर उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

प्राकृतिक आहार तो व्यक्ति के ठीक पैरों तले पड़ा होता है।

भोजन की संस्कृति

जब यह पूछा जाता है कि इंसान खाना क्यों खाता है, कम ही ऐसे लोग होते हैं जो इस जवाब से आगे बढ़ें कि यह जीवन के लिए, शरीर के विकास के लिए ज़रूरी है। परन्तु इस सामान्य प्रश्न के पीछे एक अधिक गहरा सवाल भी है, वह यह कि भोजन और मानवीय आत्मा का क्या रिश्ता है? पशुओं के लिए खाना, खेलना और सोना काफी होता है। मनुष्य के लिए भी यह बड़ी उपलब्धि होती अगर वह पोषक भोजन का लुत्फ उठाते एक सहज दैनिक जीवन जी पाते और आराम की नींद सो पाते।

बुद्ध ने कहा था, 'आकार (नाम-रूप) शून्य है और शून्य ही आकार (नाम-रूप) है।' अब क्योंकि बौद्ध शब्दावली में 'आकार' पदार्थ या वस्तुओं की ओर संकेत करता है और शून्य मन का, वे दरअसल यह कहते हैं कि पदार्थ व मन एक ही है। वस्तुओं के विविध रंग, रूप और स्वाद होते हैं और मानव का दिमाग इधर-उधर भटकता है, वस्तुओं के विविध गुणों के प्रति आकर्षित होता है। परन्तु सच्चाई यह है कि पदार्थ और मन एक ही हैं।

रंग

दुनिया में सात मूलभूत रंग हैं, परन्तु जब इन सातों रंगों को मिला दिया जाता है तो वे सफेद में तब्दील हो जाते हैं। प्रिज़्म से गुज़र कर सफेद प्रकाश सात रंगों में बदल जाता है। जब इंसान दुनिया को मस्तिष्कहीन (नो-माइण्ड) भाव से देखता है तो समस्त रंग गायब हो जाते हैं। दुनिया रंगहीन नज़र आती है। सतरंगी विभेदात्मक दृष्टि से देखने पर ही सात रंग उभरते हैं।

जल असंख्य बदलावों से गुज़रता है, पर पानी ही बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि सचेतन मन तमाम बदलावों से गुज़रता दिखाई देता है, पर मूल स्थिर मन नहीं बदलता। जब कोई सात रंगों से सम्मोहित हो जाता है तो मन आसानी से भटकता है। पत्तों, शाखाओं, फलों आदि के रंग दिखाई पड़ते हैं, जबकि मूल रंग पर ध्यान तक नहीं जाता।

यही बात भोजन पर भी लागू होती है। इस जगत में अनेक प्राकृतिक वस्तुएँ है जिनको मनुष्य खा सकता है। इन भोज्य पदार्थों को मस्तिष्क पहचानता है और मानता है कि उनके अच्छे या बुरे गुण होते हैं। तब लोग सजग हो उसे चुनते हैं जो उन्हें स्वयं के लिए ज़रूरी लगता है। चयन की यह प्रक्रिया हमें मानवीय पोषण के उस आधार को पहचानने से रोकती है जिसे दैवी शक्ति ने किसी निश्चित स्थान और मौसम के लिए तय किया है।

प्रकृति के रंग हाइड्रैंगिया फूलों की तरह आसानी से बदलते हैं। प्रकृति का स्वरूप सतत् परिवर्तनशील है। यही कारण है कि इसे निरंतर गतिशील कहा जाता है, इसे स्थिर गतिशीलता भी माना जा सकता है। जब खाद्य पदार्थों के चयन में हम तर्कबुद्धि का उपयोग करते हैं तो प्रकृति को स्थिर मान लेते हैं और प्राकृतिक बदलावों की, जैसे मौसमों के बदलने की, उपेक्षा करते हैं।

प्राकृतिक आहार का उद्देश्य ऐसे जानकार लोगों की रचना करना नहीं है जो सटीक स्पष्टीकरण दे सकें और बड़ी कुशलता से विभिन्न खाद्य पदार्थों में से सही भोजन चुन सकें, बल्कि ऐसे अनजान लोगों की रचना करना है जो सचेतन रूप से भेदभाव किए बिना भोजन करते हैं। यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध नहीं है। 'मस्तिष्क-हीनता' की स्थिति को पा लेने पर, आकारों की बारीकी में खोए बिना, रंगहीन के रंग को रंग के रूप में स्वीकार करने पर ही सही आहार प्रारंभ होता है।

स्वाद

लोग कहते हैं, 'जब तक आप स्वयं न चखें आप खाने का स्वाद जान ही नहीं सकते।' पर यह बात सब नहीं समझते कि जब आप उसे चख भी लेते हैं, तो भी उस खाने का स्वाद समय, परिस्थितियों और चखने वाले व्यक्ति की मनोवृत्ति के हिसाब से अलग-अलग लगता है।

अगर आप किसी वैज्ञानिक से पूछें कि स्वाद का मूल तत्व क्या है, तो वह उसकी परिभाषा विभिन्न घटकों को अलग-अलग कर तथा उसमें मिठास, खटास, कड़वेपन, नमकीनियत और तिक्तता की मात्रा के आधार पर देगा। परन्तु स्वाद की परिभाषा विश्लेषण से नहीं की जा सकती, ना ही जीभ के अगले सिरे से छुआ कर। यद्यपि पाँचों स्वादों की पहचान जीभ करती है, परन्तु यह ऐन्द्रिक अनुभव इकट्ठे होते हैं और दिमाग उनकी व्याख्या करता है।

भारत में 'षट्रस' की परिकल्पना है जिसमें खट्टा, मीठा, नमकीन, कड़वा, तिक्त के अलावा कषाय या कसैला भी शामिल है।

एक प्राकृतिक व्यक्ति सही आहार तक इसलिए पहुँच पाता है क्योंकि उसकी सहजवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) सही तरह से काम करती है। वह सीधे-सादे भोजन से संतुष्ट होता है, ऐसा खाना पोषक होता है, स्वादिष्ट भी और उपयोगी दैनिक औषधि का भी काम करता है। भोजन और मानवीय आत्मा परस्पर मिल जाते हैं।

आधुनिक लोग अपनी स्पष्ट सहजवृत्ति को खो चुके हैं और फलत: बसंत की सात जड़ी-बूटियों को न तो इकट्ठा कर पाते हैं, न उनका आनंद उठा पाते हैं। वे स्वादों की विविधता के पीछे भागते हैं। उनका आहार अव्यवस्थित हो जाता है, पसन्द-नापसन्द भी गहराती है, और उनकी सहजवृत्ति दिन-ब-दिन और भ्रमित हो जाती है। ऐसे में वे खाने में तेज़ मसाले मिलाने लगते हैं, पकाने की पेचीदा तकनीकें इस्तेमाल करते हैं और यों अपने भ्रम को और गहराते हैं। भोजन और मानवीय आत्मा के बीच दूरी बढ़ती जाती है।

आज ज़्यादातर लोग भात (पका चावल) के स्वाद से विलग हो चुके हैं। यह साबुत अन्न परिष्कृत और संसाधित किया जाता है और तब उसमें कोरी बेस्वाद मांडी (स्टार्च) के अलावा कुछ नहीं बचता। पॉलिश किए गए चावल में साबुत चावल की न तो खुशबू होती है, न स्वाद। फलस्वरूप उसमें मसालों

की, साथ में खाए जाने वाले व्यंजनों की, या फिर किसी शोरबे की ज़रूरत पड़ती है। लोग सोचते हैं, और गलत ही सोचते हैं, कि चावल का खाद्य-मूल्य कम हो तो फर्क नहीं पड़ता, बशर्ते वे पूरक विटामिन आदि लेते रहें, या माँस या मछली के माध्यम से गायब पोषक तत्वों की पूर्ति कर लें।

स्वादिष्ट भोजन अपने-आप में ज़ायकेदार नहीं होता। खाना तब तक स्वादिष्ट नहीं लगता जब तक व्यक्ति उसे स्वादिष्ट न माने। यद्यपि अधिकाँश माँसाहारी लोग मानते हैं कि गौ माँस या मुर्गी का माँस बड़ा लज़ीज होता है, पर जो व्यक्ति शारीरिक या आध्यात्मिक कारणों से उन्हें नापसंद करना तय कर लेता है उसके लिए वे घृणित बन जाते हैं।

बच्चे खेलते-कूदते या कुछ न करते हुए भी खुश रहते हैं। पर एक समझदार वयस्क स्वयं यह तय करता है कि उसे कौन-सा कृत्य आनंद देगा और जब वे स्थितियाँ पूरी होती हैं तब ही वह संतुष्टि का अनुभव करता है। उसे भोजन इसलिए स्वादिष्ट नहीं लगता कि उसमें प्रकृति के नाज़ुक स्वाद होते हैं और वह शरीर को पोषण देता है, बल्कि इसलिए क्योंकि उसकी स्वादशक्ति इस विचार से अनुकूलित हो गई होती है कि वह स्वादिष्ट है।

गेहूँ से बने नूडल स्वादिष्ट होते हैं, पर एक वेन्डिंग मशीन से तत्काल तैयार किए गए नूडल बेहद खराब होते हैं। परन्तु अगर विज्ञापनों के सहारे यह विचार हटा दिया जाए कि उनका स्वाद खराब है, तो कई लोगों को वे अखाद्य नूडल भी किसी तरह अच्छे लगने लगते हैं।

आपने हितोपदेश की ऐसी कहानियाँ भी सुनी होंगी कि लोमड़ी के द्वारा छले जाने पर लोग घोड़े की लीद भी खा जाते हैं। पर यह हँसने की बात नहीं है। आजकल लोग सच में अपने दिमाग से खाते हैं, अपने शरीर से नहीं। कई तो इसकी भी परवाह नहीं करते कि उनके खाने में मोनोसोडियम ग्लूटामेट (अजीनोमोटो) पड़ा हुआ है, पर वे जीभ की नोक से ही चखते हैं, सो आसानी से बेवकूफ बना लिए जाते हैं।

पहले लोग सिर्फ इसलिए खाते थे क्योंकि वे ज़िन्दा थे और खाना स्वादिष्ट। आधुनिक लोग मानते हैं कि जब तक खाना ढेर मसालों के साथ न पकाया जाए, वह बेस्वाद होगा। अगर आप खाने को स्वादिष्ट बनाने की कोशिश न करें तो पाएँगे कि प्रकृति ने उसे स्वादिष्ट ही बनाया है।

सोचने की पहली बात तो यह है कि आप ऐसे जियें कि खाना स्वादिष्ट लगे, पर आज सारी कोशिश खाने में स्वाद मिलाने की रहती है। विडंबना यह है कि स्वत: स्वादिष्ट भोजन अब गायब ही हो चुका है।

लोगों ने स्वादिष्ट ब्रेड (डबलरोटी) बनाने की कोशिश की और स्वादिष्ट ब्रेड गायब हो गई। भारी (गरिष्ठ) और विलासमय भोजन बनाने की कोशिश में लोग बिल्कुल बेकार, अनुपयोगी व्यंजन बना डालते हैं और अब तो लोगों की भूख ही शांत नहीं होती।

खाना पकाने के सबसे बढ़िया तरीकों में प्रकृति के कोमल-नाज़ुक स्वाद बचाए जाते हैं। पुरानी रोज़मर्रा की सूझबूझ ने लोगों को यह क्षमता दी थी कि वे विभिन्न सब्ज़ियों से अचार बना सकें, जैसे धूप में सुखाए गए अचार, नमक के अचार, चोकर अचार, मीसो अचार, ताकि उन सब्ज़ियों का अपना स्वाद बरकरार रहे।

पाक कला समुद्री नमक और लपलपाती आग के साथ शुरु होती है। जब भोजन किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा पकाया जाता है जो पाकशास्त्र के मूल आधारों के प्रति संवेदनशील हो, तो उसका नैसर्गिक स्वाद भी बना रहता है परन्तु पकाने पर अगर उसमें कोई विचित्र और विदेशी स्वाद आने लगे और इस बदलाव का मकसद केवल तालु को खुश करना हो तो वह पकाने का गलत तरीका है।

सामान्यत: संस्कृति को केवल मानवीय प्रयासों द्वारा गढ़ी गई, कायम रखी गई या विकसित की गई चीज़ माना जाता है। परन्तु संस्कृति तो हमेशा ही मनुष्य और प्रकृति की साझेदारी से प्रारंभ होती है। तब मानव-समाज और प्रकृति का संयोग स्थापित हो जाता है जब संस्कृति अपना स्वरूप धारण करती है। संस्कृति हमेशा से ही हमारे रोज़मर्रा के जीवन से जुड़ी रही है, यों भावी पीढ़ियों को सौंपी जाती रही है, और आज तक संरक्षित रह पाई है।

जो मानव के गर्व और आनंद की तलाश से जन्मा हो उसे तो वास्तविक संस्कृति माना ही नहीं जा सकता। सच्ची संस्कृति प्रकृति में ही जन्मती है, वह सरल, विनम्र और शुद्ध होती है। वास्तविक संस्कृति के अभाव में मानवता नष्ट हो जाएगी।

जब लोगों ने प्राकृतिक भोजन को खारिज कर दिया और उसके बदले परिष्कृत भोजन को अपनाया, समाज अपने विनाश के पथ पर बढ़ चला। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि ऐसा खान-पान वास्तविक संस्कृति का उत्पाद नहीं है। भोजन तो स्वयं जीवन है और जीवन को प्रकृति से विलग नहीं होना चाहिए।

महज रोटी के लिए जीना

स्वादिष्ट खाना खाने से बेहतर कुछ भी नहीं है। फिर भी ज्यादातर लोगों के लिए भोजन शरीर को पोषण देने या काम के लिए ताकत पाने और दीर्घायु जीवन जीने का तरीका-भर होता है। माँ अक्सर बच्चों से कहती हैं कि खाना स्वादिष्ट न भी लगे तो भी खा लो, क्योंकि वह उनके लिए 'अच्छा' है।

परन्तु पोषण को हम स्वाद की इन्द्रिय से अलग नहीं कर सकते। पोषक भोजन, जो मानव शरीर के लिए अच्छा हो, वह भूख को उकसाता है और यों भी स्वादिष्ट लगता है। समुचित पोषण अच्छे स्वाद से अलग किया ही नहीं जा सकता।

कुछ ही समय पहले तक इस इलाके के किसानों का रोज़ का भोजन मीसो के साथ चावल और जौ तथा सब्ज़ियों का अचार हुआ करता था। यह आहार लंबी आयु, मज़बूत शरीर व अच्छा स्वास्थ्य देता था। दमपुख्त सब्ज़ियाँ और राजमा के साथ भापे चावल मासिक भोज माना जाता था। किसान का स्वस्थ बलिष्ठ शरीर इस सीधे-सादे चावल के आहार पर स्वयं को पोषित करता था।

पूर्व का परंपरागत भूरे चावल व सब्ज़ियों का आहार अधिकाँश पश्चिमी समाजों से काफी भिन्न होता है। पश्चिमी पोषण विज्ञान मानता है कि जब तक मांड, वसा, प्रोटीन, खनिज और विटामिन की एक निश्चित मात्रा प्रतिदिन नहीं खाई जाती है तो एक संतुलित आहार व स्वास्थ्य कायम नहीं रखा जा सकता। इसी मान्यता से वह माँ जन्मती है जो अपने लाड़ले के मुँह में 'पोषक' भोजन ठूंसती जाती है।

यह सोचा जा सकता है कि पाश्चात्य पोषण विज्ञान, जिसके पेचीदा सिद्धान्त और गणनाएँ हैं, सही आहार के विषय में कोई शंका नहीं रहने देगा। परन्तु सच यह है कि यह पोषण विज्ञान जितने समाधान करता है उससे कहीं अधिक समस्याएँ पैदा करता है।

पहली समस्या तो यह है कि पाश्चात्य पोषण विज्ञान में आहार को प्राकृतिक चक्र के अनुरूप बनाने की कोई कोशिश ही नहीं है। ऐसे में जिस आहार तक आप पहुँचते हैं, वह मानव को प्रकृति से काट देता है। प्रकृति का भय और असुरक्षा की भावना इसके दुर्भाग्यपूर्ण नतीजे हैं।

दूसरी समस्या यह है कि इसमें आध्यात्मिक व भावनात्मक मूल्य पूरी तरह बिसरा दिए जाते हैं, हालाँकि भोजन सीधे-सीधे मानव आत्मा और भावनाओं से जुड़ा है। अगर हम इंसान को केवल एक शरीरविज्ञानी वस्तु के रूप में देखेंगे तो आहार की एक युक्तियुक्त समझ तक पहुँचना ही असंभव होगा। अगर सूचना को टुकड़े-टुकड़े कर इकठ्ठा कर साथ मिलाया जाए तो भ्रम और भ्रांति पैदा होती है और इसका नतीजा होगा त्रुटिपूर्ण आहार, जो प्रकृति से दूर ले जाएगा।

"एक वस्तु में तमाम वस्तुएँ समाई हैं, पर सभी वस्तुओं को मिलाने पर एक वस्तु नहीं उपजती।" पूर्वी दर्शन के इस नियम को पाश्चात्य विज्ञान समझ नहीं पाता। कोई व्यक्ति एक तितली का विश्लेषण कर उसे जितना चाहे जाँच ले, पर वह तितली बना नहीं सकता।

अगर पश्चिमी वैज्ञानिक आहार को व्यापक स्तर पर अमल में उतार लिया जाए तो कैसी समस्याएँ उभरेंगी? साल-भर उच्च कोटि का गौ माँस, अण्डे, दूध, सब्ज़ियाँ, डबलरोटी और खाद्यान्न और दूसरी वस्तुएँ उपलब्ध होनी होंगी। और इसका मतलब बड़े स्तर पर इनका उत्पादन और उसका लंबे समय तक भण्डारण ज़रूरी हो जाएगा। जापान में अभी से ही इस आहार को अपनाने के कारण किसानों को सर्दियों में भी गर्मियों की सब्ज़ियाँ, जैसे लेट्यूस, खीरे, बैंगन और टमाटर उगाने पड़ रहे हैं। वह दिन दूर नहीं जब किसानों से कहा जाएगा कि वे बसंत में परसिम्मो (एक तरह का खजूर) और पतझड़ में नासपतियाँ उगाएँ।

यह उम्मीद रखना विवेकहीन है कि मौसमों की उपेक्षा कर साल-भर विविध खाद्य पदार्थ उपलब्ध करवाने से आहार को स्वास्थ्यवर्धक और संतुलित बनाया जा सकता है। प्राकृतिक स्थितियों में उगे और पके फलों व सब्ज़ियों की तुलना में बेमौसमी, कृत्रिम स्थितियों में उगाए गए फल-सब्ज़ियों में

विटामिनों और खनिजों की मात्रा काफी कम होती है। फिर क्या आश्चर्य कि पतझड़ या सर्दियों में उगाई गई गर्मियों की सब्जियों में, न वह स्वाद न ही वह खुशबू होती है जो जैविक व प्राकृतिक तरीके से उगी गर्मियों की सब्जियों में होती है।

इस भूल के मुख्य कारण हैं रासायनिक विश्लेषण, पोषक तत्वों का अनुपात और ऐसे ही अन्य विचार। आधुनिक विज्ञान खान-पान का जो नुस्खा देता है, वह पूर्वी आहार से कोसों दूर है और वह जापानी लोगों के स्वास्थ्य में सेंध लगा रहा है।

आहार का सार-संक्षेप

इस दुनिया में आहार के चार मुख्य विभाजन होते हैं:

1. एक शिथिल आहार, जो आदत में शुमार इच्छाओं और स्वाद की पसंद पर आधारित हो। इसका अनुसरण करने वाले अपनी सनक और पसंद के चलते बेतरतीब इधर से उधर भटकते हैं। इसे असंयमित आसक्तिपूर्ण खानपान कहा जा सकता है।

2. अधिकतर लोगों का मानक पोषक आहार, जो जीवविज्ञानी निष्कर्षों पर आधारित हो। पोषक भोजन जीवन व शरीर को बनाए रखने के लिए खाया जाता है। इसे भौतिकवादी, वैज्ञानिक खानपान कहा जा सकता है।

3. आध्यात्मिक सिद्धान्त और आदर्शवादी दर्शन पर आधारित आहार। खानपान की वस्तुओं को सीमित रखना जिसका लक्ष्य सिकोड़ना या संयमित करना हो। अधिकाँश प्राकृतिक आहार इसी श्रेणी में आते हैं। इसे सिद्धान्त पर आधारित आहार कहा जा सकता है।

4. प्राकृतिक आहार, जो दैवी इच्छा का अनुसरण करता है। समूचे मानवीय ज्ञान को तजने वाले इस आहार को अविभेदात्मक आहार कह सकते है।

सबसे पहले लोग खोखले शिथिल खान-पान से दूर हटते हैं जो असंख्य रोगों का स्त्रोत है। तब वैज्ञानिक आहार से उनका मोहभंग होता है जो केवल जीव वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन जीने की कोशिश में उन्हें उलझाता है, तब कई लोग सिद्धान्तों के आहार की ओर मुड़ते हैं। अंत में इससे भी ऊपर उठते हुए वे एक प्राकृतिक मानव के अविभेदात्मक आहार तक पहुँचते हैं।

अविभेदात्मक आहार

मानव जीवन स्वयं अपनी ही शक्ति से कायम नहीं रहता। प्रकृति मानव को जन्म देती है, उसे जीवित रखती है। यही प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता है। भोजन दैवीय देन है। इंसान प्रकृति से भोजन की रचना नहीं करता, यह तो ईश्वरीय वरदान है।

भोजन खाद्य है और भोजन अखाद्य भी। वह मनुष्य का हिस्सा है और उससे अलग भी है।

जब प्रकृति में भोजन, शरीर, दिल और दिमाग सभी पूर्णत: समेकित होते हैं तब प्राकृतिक आहार

संभव होता है। इसी तरह हमारा शरीर अपनी सहजवृति के अनुरूप, जो स्वादिष्ट लगे वह खाता है, जो बेस्वाद लगे उससे बचता है।

किसी प्राकृतिक आहार के नियम और मात्राएँ निर्धारित करना असम्भव है।* स्थानीय परिवेश के अनुरूप तथा प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं व शारीरिक संरचना के हिसाब से वह स्वयं को परिभाषित करता है।

सिद्धान्त आधारित आहार

इस बात के प्रति सबको सजग होना चाहिए कि प्रकृति हमेशा ही संपूर्ण होती है, स्वयं के साथ पूर्ण समन्वय में संतुलित रहती है। प्राकृतिक भोजन पूर्ण होता है, और इस पूर्णता में पोषण व कोमल-नाज़ुक स्वाद होते हैं।

लगता यह है कि यिन तथा यांग की प्रणाली को लागू कर लोग ब्रह्माण्ड के उद्भव और प्रकृति के बदलावों को समझा सकते हैं। लग यह भी सकता है कि मानव-शरीर की सुसंगति को सचेतन रूप से स्थापित किया व कायम रखा जा सकता है। परन्तु अगर इन सिद्धान्तों की गहराई में घुसें (जैसा पूर्वी चिकित्सा के अध्ययन में आवश्यक भी होता है), तो आप विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं और विभेदात्मक नुस्खों से बच नहीं सकते।

मानवीय ज्ञान की सीमाओं को पहचाने बिना उसकी बारीकियों में बहने पर सिद्धान्त आधारित आहार का पालन करने वाला व्यक्ति अलग-थलग वस्तुओं से सरोकार रखता है। प्रकृति को वृहत्तर दृष्टि से देखते हुए उसके व्यापक अर्थ को समझने की कोशिश में उलझा वह व्यक्ति अपने पैरों तले हो रही छोटी-छोटी चीज़ों को देख नहीं पाता।

एक बीमार व्यक्ति का ठेठ पथ्य

रोग तब आते हैं जब व्यक्ति प्रकृति से कट जाता है। रोग की गंभीरता इस कटाव के अनुपात पर निर्भर करती है। अगर रोगी स्वस्थ वातावरण में लौट आए तो अकसर रोग भी गायब हो जाता है। जब प्रकृति से कटाव हद से ज़्यादा हो जाए तो रोगियों की संख्या भी बढ़ जाती है। परन्तु प्रकृति के पास लौटने की कोशिश करते समय लोग यह तो समझते ही नहीं हैं कि प्रकृति दरअसल है क्या, सो ये प्रयास भी बेकार सिद्ध होते हैं।

व्यक्ति अगर पहाड़ों पर आदिम जीवन बिताने लगे तब भी यह संभव है कि वह अपने वास्तविक उद्देश्य तक को न समझा हो। अगर आप किसी चीज़ को करने की कोशिश करते हैं तो आपकी चेष्टाएँ मनचाहे नतीजें को कभी हासिल नहीं कर पातीं।

शहरों में बसने वाले लोग प्राकृतिक आहार पाने में भारी परेशानियों का सामना करते हैं। प्राकृतिक भोजन कहीं उपलब्ध ही नहीं है, इसलिए क्योंकि किसानों ने उसे उगाना ही बंद कर दिया

* एक सुनिश्चित नियमावली या प्रणाली, जिसके अनुसार हम सचेतन रूप से इन प्रश्नों को तय कर सकें यह असम्भव है। प्रकृति या हमारा शरीर ही इसका सक्षम मार्गदर्शक है। पर उसके कोमल निर्देश अधिकतर लोग सुन ही नहीं पाते, क्योंकि हमारी इच्छाओं और विभेदबुद्धि की गतिविधियों का शोर उन्हें दबा देता है।

है। अगरचे वे उसे खरीद भी पाते तो शायद उनका शरीर ऐसे स्वस्थ आहार को स्वीकार न कर पाता।

ऐसी स्थिति में अगर आप स्वास्थदायक भोजन खाने की चेष्टा करते हैं या, एक यिन-यांग संतुलित आहार तक पहुँच पाते हैं, तो इसके लिए आपको किसी दूसरी ही दुनिया के साधनों और समझ-बूझ की ज़रूरत पड़ेगी। अर्थात् प्रकृति के पास लौटने के बदले व्यक्ति एक विचित्र व पेचीदा किस्म के 'प्राकृतिक' आहार तक पहुँचेगा जो उसे प्रकृति से और दूर ले जाएगा।

अगर आप आज के 'स्वस्थ भोजन' (हैल्थ फूड) की दुकानों में झाँकें तो आपको ताज़े खाद्य पदार्थ, डब्बाबंद पदार्थ, विटामिन तथा पूरक आहार का गड़बड़झाला मिलेगा। साहित्य में भी विभिन्न तरह के आहारों को 'प्राकृतिक', पोषक और स्वास्थ्य के लिए श्रेष्ठ बताया जाता है। अगर कोई यह कहता है कि अलग-अलग चीजों को एक साथ उबालना स्वास्थ्यवर्धक है, तो दूसरा कहेगा कि साथ उबालने से लोग रोगी हो जाते हैं। कोई यह रेखांकित करता है कि खाने में नमक अत्यावश्यक है, तो दूसरा कहेगा अधिक नमक नुकसान पहुँचाता है। अगर कोई फल को यिन मान, बन्दरों का भोजन मान उससे परहेज करने का सुझाव देता है, तो कोई दूसरा कहेगा कि फल और सब्ज़ियाँ व्यक्ति को दीर्घायु देते हैं और उसे प्रसन्नचित्त रखते हैं।

अलग-अलग समय तथा अलग-अलग परिस्थितियों में ये सभी मत सही ठहराए जा सकते हैं, सो ज़ाहिर ही है कि लोग भ्रमों में उलझ जाते हैं। या शायद कहना यह चाहिए कि भ्रम में उलझे व्यक्ति के लिए ये तमाम सिद्धान्त अधिक व्यापक भ्रम पैदा करने की सामग्री बनते हैं।

प्रकृति सतत् परिवर्तनशील है, पल-पल में बदलती है। लोग उसके वास्तविक रूप को ग्रहण ही नहीं कर पाते। प्रकृति का चेहरा अज्ञात है। उस अजाने को सिद्धान्तों और औपचारिक उपदेशों में बाँधना कुछ ऐसा है मानो तितलियाँ पकड़ने की जाली से आप हवा को पकड़ना चाहते हों।

अगर आप किसी गलत लक्ष्य को बेधते हैं, तो भूल कर बैठते हैं।

मानवता उस अन्धे हुए व्यक्ति की तरह है जो यह जानता तक नहीं कि वह कहाँ बढ़ा जा रहा है। वह वैज्ञानिक ज्ञान की छड़ी से इधर-उधर टटोलता है, और अपनी राह तय करने की बात यिन और यांग पर छोड़ देता है।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि भोजन दिमाग से मत खाओ, और इसका मतलब यह है कि उस विभेदात्मक दिमाग से पीछा छुड़ा लो। मैंने उम्मीद की थी कि जो खाद्य-मण्डल मैंने आँका था, वह एक मार्गदर्शक का काम करेगा और एक नज़र में दर्शाएगा कि विभिन्न खाद्य पदार्थों में परस्पर और मनुष्य से क्या संबंध है। पर एक नज़र देख लेने के बाद आप उसे भी फेंक सकते हैं।

जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वह यह कि व्यक्ति में इतनी संवेदनशीलता पैदा हो जाए कि वह शरीर को खुद के लिए खाना चुनने दे। आत्मा को भूल केवल खान-पान के बारे में सोचना कुछ ऐसा है, जैसे आप मंदिर जाएं, सूत्र पढ़ें, पर बुद्ध को बाहर ही छोड़ आएं। भोजन की समझ विकसित करने के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने के बजाय, बेहतर यह होगा कि आप रोजमर्रा के आहार के भीतर से अपने सिद्धान्त तक पहुँचें।

चिकित्सक बीमारों की देखभाल करते हैं, स्वस्थ लोगों की देखभाल प्रकृति करती है। बीमार हो कर, ठीक होने के लिए प्राकृतिक आहार पर ध्यान देने के बनिस्बत व्यक्ति को प्राकृतिक वातावरण में जीना चाहिए ताकि रोग पास न फटके।

जो नौजवान पहाड़ पर बनी कुटियाओं में आदिम जीवन बिता रहे हैं, जो प्राकृतिक भोजन खाते हैं, प्राकृतिक खेती करते हैं, वे मानव के परम उद्देश्य को समझते हैं और सीधे-सीधे उसी के अनुरूप जीना चाहते हैं।

भोजन और खेती

यह पुस्तक कुदरती खेतीबारी पर है, अत: स्वाभाविक ही है कि इसमें प्राकृतिक भोजन पर भी विचार किया जाए। ऐसा इसलिए ज़रूरी है क्योंकि भोजन और खेती एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह तो अग्नि के प्रकाश से भी अधिक साफ है कि अगर प्राकृतिक खेती नहीं की जाती तो प्राकृतिक खाद्य पदार्थ भी जनता को उपलब्ध नहीं होंगे। परन्तु अगर प्राकृतिक आहार का विचार स्थापित नहीं होता तो किसान हमेशा इस उलझन में रहेगा कि वह आखिर क्या उगाए?

जब तक लोग प्राकृतिक लोग नहीं बनते, न तो प्राकृतिक खेती होगी, न प्राकृतिक भोजन। पहाड़ी पर बनी कुटियों में से एक में मैंने अलाव के ऊपर एक चीड़ की तख्ती लगा छोड़ी थी जिस पर खुदा था 'सही भोजन, सही कर्म, सही चेतना'।* इन तीनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इनमें से एक भी न हो तो शेष को हासिल नहीं किया जा सकता। और अगर एक भी हासिल हो जाए तो सभी प्राप्त हो जाते हैं।

लोग आत्मसंतुष्टि के साथ दुनिया को ऐसा स्थान मान बैठते हैं जहाँ खलबली और अनिश्चय से 'प्रगति' निकलती है। परन्तु निरुद्देश्य व विनाशकारी विकास वैचारिक भ्रम पैदा करता है, जो मानव-जाति का पतन और विध्वंस आमंत्रित करता है। जब तक इस तमाम गतिविधि के अचल स्रोत का ज्ञान न हो – यह न समझ लिया जाए कि प्रकृति क्या है – तब तक अपने स्वास्थ्य को सुधारना, उसे फिर से पा लेना असम्भव है।

---

* यह आदर्श बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक बोध के अष्टांगिक मार्ग पर आधारित है।

V
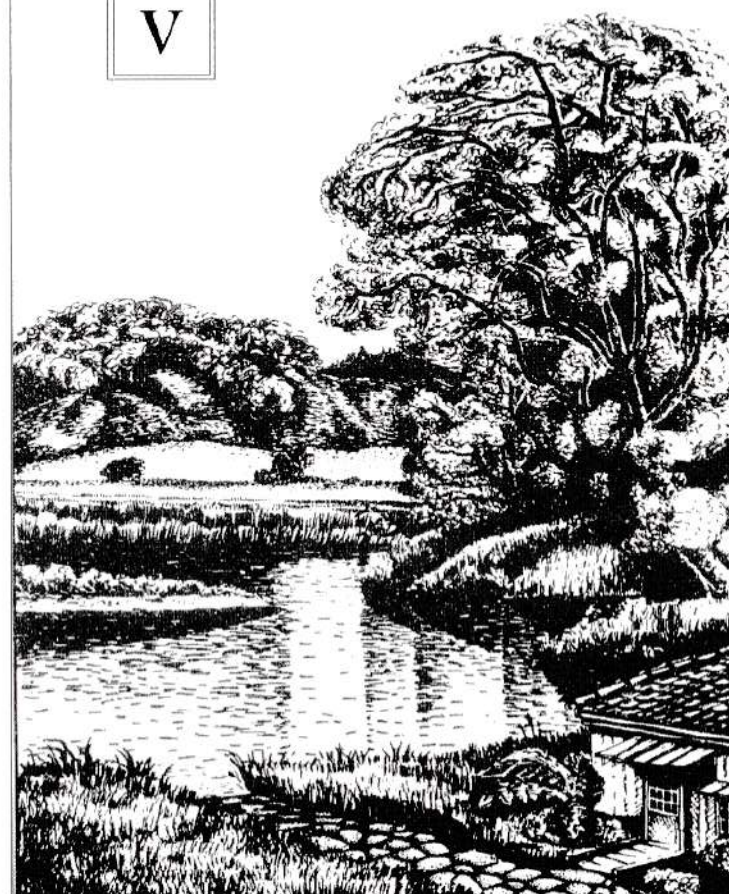
चतुर नज़र आने से बेवकूफी उपजती है

पतझड़ के मौसम में रातें लंबी और ठण्डी होती हैं। ऐसे में दमकते कोयलों पर नज़र गाड़े, गरम चाय की प्याली के गिर्द उँगलियाँ लपेटे, अच्छा वक्त गुज़ारा जा सकता है। कहते हैं कि आग तापते हुए किसी भी विषय पर चर्चा की जा सकती है। सो यह सोच कि मेरे साथी किसानों की शिकायतें चर्चा का रोचक विषय बन सकती हैं, मैंने विषय छेड़ दिया। पर लगता है कि इसमें कुछ समस्याएँ आएंगी।

यहाँ मैं, तबसे यह कहता जा रहा हूँ कि हमारी तमाम कोशिशों का कोई फायदा नहीं, कि मानव जाति अज्ञानी है, और ऐसा कुछ नहीं है जिसे हासिल करने की चेष्टा की जाए, और जो कुछ किया जाता है, वह बेकार ही जाता है। यह सब कहने के बाद, मैं भला इतना बड़बड़ा कैसे सकता हूँ? अगर मैं कुछ लिखने पर स्वयं को बाध्य करूँ तो, इसके अलावा क्या लिख सकता हूँ कि लेखन बेमानी है। यह सब बड़ा असमंजस पैदा करता है।

मैं अपने अतीत पर इतना सोच-विचार नहीं करना चाहता कि उस पर कुछ लिखूँ, और इतना ज्ञानी मैं हूँ नहीं कि भविष्यवाणी कर सकूँ। अलाव के अंगारों को पलटते, उसके पास चल रही रोज़मर्रा की बातचीत करते मैं यह उम्मीद भी कैसे कर सकता हूँ कि कोई एक बूढ़े किसान की ऊल-जुलूल धारणाओं को झेले?

फल-बागान के शिखर पर मात्सुयामा खाड़ी और चौड़े डोगो मैदान को देखते हुए कई छोटी, मिट्‌टी की दीवारों वाली, काली कुटिया हैं। वहाँ मुट्‌ठी-भर लोग इकट्‌ठे हो, साथ-साथ एक सादा जीवन जी रहे हैं।

वहाँ किसी तरह की आधुनिक सुविधाएँ नहीं हैं। मोमबत्तियों या लालटेनों के प्रकाश में शाँत शामें काटते ये लोग सीधी-सादी आवश्यकताओं को पूरा करने वाला जीवन जीते हैं: भूरा चावल, सब्ज़ियाँ, एक चोगा और कटोरा। वे कहीं से आते हैं, कुछ समय ठहरते हैं और फिर आगे बढ़ जाते हैं।

इन मेहमानों में कृषि शोधकर्ता, छात्र, विद्वान, किसान, हिप्पी, कवि और यायावर, जवान और बूढ़े, विभिन्न वृत्तियों और देशों के स्त्री-पुरुष होते हैं। जो अधिक लंबा समय गुज़ारते हैं उनमें अधिकाँश ऐसे युवक-युवतियाँ हैं जिन्हें आत्मनिरीक्षण के लिए समय की ज़रूरत होती है।

मेरी भूमिका है राह किनारे बनी इस सराय के रखवाले की, जो आते-जाते यात्रियों को चाय पिलाता हो। और जब वे खेतों में मदद करते हैं, मैं दुनिया-भर में जो हो रहा है उसका वर्णन सुनने का मज़ा उठाता हूँ।

सुनने में यह लग सकता है कि यह सब बड़ा आरामदेह है, पर दरअसल उतना आसान और कोमल यह जीवन नहीं है। मैं 'कुछ न करो' खेती की पैरवी करता हूँ, सो कई लोग यह सोच कर आते हैं कि उन्हें एक आदर्शलोक मिलेगा जहाँ वे बिस्तर छोड़े बिना ज़िन्दगी काट सकेंगे। उनको बड़ा धक्का लगता है। सुबह की धुंध में झरने से पानी ढोकर लाना। तब तक जलावन की लकड़ी चीरना जब तक हाथ लाल जलनदार फफोलों से न भर जाएँ, एड़ी तक आने वाले कादे-कीचड़ में काम करना – ऐसे में कई जल्दी ही भाग जाते हैं।

आज जब मैं नौजवानों के एक झुण्ड को एक छोटी कुटिया पर काम करते देख रहा था, फुनाबाशी की एक युवती मेरे पास पैदल चली आई।

जब मैंने पूछा कि वह क्यों आई है, वह बोली, 'मैं बस आ गई। मैं और कुछ नहीं जानती।'

युवती होशियार, बेपरवाह, हाज़िरजवाब लगी।

तब मैंने कहा कि 'अगर तुम जानती हो कि तुम प्रबुद्ध नहीं हो, तो कहने को कुछ बचता ही नहीं, ठीक है ना? जब लोग दुनिया को विभेदात्मक शक्ति के माध्यम से समझने लगते हैं, तो उसका अर्थ पकड़ में नहीं आता। क्या इसलिए ही दुनिया ऐसी झंझट में फंस नहीं गई है?'

उसने धीमे से कहा, 'हाँ, अगर आप कहते हैं तो ऐसा ही होगा।'

'संभव है कि तुम्हें यह ही साफ पता न हो कि बोध दरअसल है क्या। यहाँ आने के पहले तुमने किस तरह की किताबें पढ़ीं हैं?'

उसने सिर हिला पढ़ने को नकार दिया।

लोग इसलिए पढ़ते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वे जानते-समझते नहीं, परन्तु पढ़ने से समझने में मदद नहीं मिलती। खूब-खूब पढ़ लेने के बाद उन्हें यह पता चलता है कि हम कुछ जान नहीं सकते, कि समझना इंसान की पहुँच के परे है।
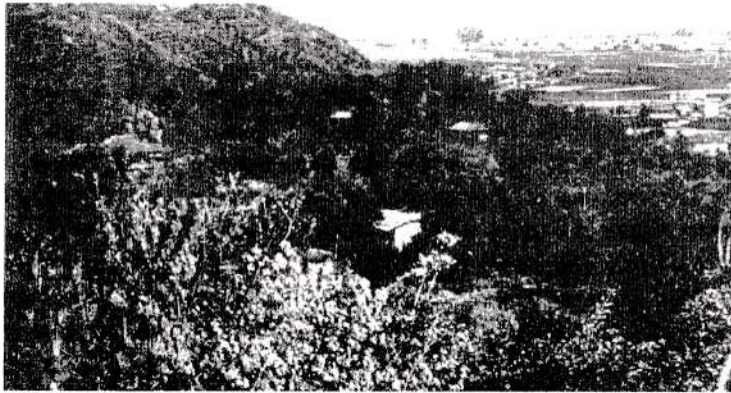
पहाड़ी पर से बागान और झोपड़ियों का एक दृश्य

जब "ना-समझदारी" शब्द काम में लिया जाता है तो सामान्यत: लोग यह मतलब निकालते हैं कि मान लो आप नौ चीज़ों को समझते हैं, पर फिर भी एक दसवीं वस्तु है जिसे आप नहीं समझते। परन्तु दस वस्तु को समझने की मंशा के बावजूद, वास्तव में आप एक भी नहीं समझते। अगर आप सौ फूलों को जानते हैं तो भी आप एक अकेले फूल को नहीं 'जान' सकते। लोग समझने का संघर्ष करते हैं, खुद को यह भरोसा दिलाते हैं कि वे समझते हैं, और बिना कुछ जाने-समझे ही मर जाते हैं।

नवयुवकों ने लकड़ी का काम कुछ देर रोका और एक बड़े से मैन्डारिन सन्तरे के पेड़ के नीचे घास पर सुस्ताने बैठे, दक्षिणी आकाश पर रुई के फाहों जैसे बादलों को निहारने लगे।

जब लोग धरती से आँखें हटा नजरें आसमान की ओर करते हैं तो सोचते हैं कि वे स्वर्ग को ही देख रहे हैं। वे सन्तरे को उसके पेड़ की हरी पत्तियों से अलग कर कहते हैं कि वे पत्तों का हरा और सन्तरे का नारंगी रंग पहचानते हैं। परन्तु जैसे ही हरे और नारंगी में अंतर करते हैं, वास्तविक रंग गायब हो जाते हैं।

जब लोग वस्तुओं से परिचित हो जाते हैं तो सोचते हैं कि वे उन्हें समझने लगे हैं। ऐसा ज्ञान सतही है। यह उस खगोलशास्त्री का ज्ञान है जो विभिन्न ग्रहों के नाम जानता है, उस वनस्पतिशास्त्री का ज्ञान है जो पत्तों और फूलों के विभाजन को जानता है, उस चित्रकार का ज्ञान है जो हरे और लाल रंग के सौंदर्यशास्त्र को समझता है। पर इससे स्वयं प्रकृति को नहीं जाना जा सकता – धरती और आकाश, हरा और लाल। खगोलशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री और चित्रकार आदि कुछ छवियाँ पकड़ पाते हैं और अपने मस्तिष्क की तिजोरी में उसकी व्याख्या करते हैं। जितना अधिक वे बौद्धिक गतिविधि में उलझते हैं उतना अधिक वे स्वयं को प्रकृति से दूर करते चलते हैं और उनके लिए स्वाभाविक रूप से जीना भी उतना ही कठिन बन जाता है।

त्रासदी यह है कि अपने निराधार अहंकार के मारे लोग प्रकृति को अपनी इच्छानुसार मोड़ना चाहते हैं। मनुष्य प्राकृतिक स्वरूपों को नष्ट तो कर सकता है, पर उनकी रचना नहीं कर सकता। विभेद, एक खण्डित व अपूर्ण समझ, हमेशा से ही मानवीय ज्ञान का प्रारंभ बिन्दु रहा है। समूची प्रकृति जानने में अक्षम लोग उसके आधे-अधूरे प्रारूप बनाने से अधिक कुछ नहीं कर पाते और तब स्वयं को यह सोच कर छलते हैं कि उन्होंने कुछ प्राकृतिक बनाया है।

प्रकृति को वास्तव में जानना हो तो व्यक्ति को केवल इतना ही आत्मज्ञान पाना होगा कि वह दरअसल कुछ नहीं जानता, कुछ जान पाने की क्षमता उसमें नहीं है। तब यह उम्मीद की जा सकती है कि विभेदात्मक ज्ञान में उसकी रुचि खत्म होगी। जब वह विभेदात्मक ज्ञान को तज देगा उसमें स्वत: ही अविभेदात्मक ज्ञान उपजेगा। तब वह जानने के विषय में सोचेगा नहीं, जानने की चिंता त्यागेगा, तब ऐसा समय भी आएगा जब वह वास्तव में समझेगा। अहंकार को नष्ट करने के अलावा, यह विचार त्यागने के अलावा, कि धरती और आकाश से अलग भी मनुष्य का कोई अस्तित्व है, कोई रास्ता है ही नहीं।

'इसका मतलब है चतुर बनने के बदले बुद्धू बनना' मैंने चतुर और आत्मतुष्ट दिखने वाले नौजवान को झिड़का, 'तुम्हारी आँखों में यह क्या दीख पड़ता है? चतुर दिखने से ही बेवकूफी उपजती

है, या फिर तुम्हारी कोशिश यह है कि तुम बेवकूफ किस्म के चतुर बनो? तुम चतुर नहीं बन सकते, न बेवकूफ ही बन सकते हो, तुम अधरझूल में फँसे हो। क्या अभी ठीक यही तुम्हारा हाल नहीं है?'

मुझे भान होता उसके पहले तो मैं ही आपा खो बैठा, वही-वही शब्द बार-बार दोहराता गया, शब्द जो मौन रहने की समझदारी की तुलना में कहीं टिकते ही नहीं हैं, शब्द जिन्हें मैं खुद ही नहीं समझ पा रहा था।

पतझड़ का सूर्य क्षितिज में अस्त हो चला था। बूढ़े पेड़ के पैरों तले गोधूलि वेला के रंग बढ़े आ रहे थे। इनलैण्ड सागर का प्रकाश नौजवानों के पीठ पर पड़ रहा था, वे उठे और धीरे-धीरे कुटियों की ओर शाम का खाना खाने लौटे। मैं उनकी परछाइयों में चुपचाप पीछे चला।

बेवकूफ कौन है?

कहते हैं इंसान-सा समझदार कोई दूसरा जीव नहीं है। पर इसी बुद्धिमानी का उपयोग कर लोग ऐसे एकमात्र पशु बन गए हैं जिसमें परमाणु युद्ध करने की क्षमता है।

उस रोज़ ओसाका स्टेशन के सामने प्राकृतिक खाद्य सामग्री की दुकान का प्रमुख, पहाड़ चढ़, सात सौभाग्य देवताओं के समान सात साथियों को साथ ले आ पहुँचा। दोपहर को जब हम अटरम-शटरम के साथ पके भूरे चावलों का भोज खा रहे थे, उनमें से एक ने कहा : "बच्चों की टोली में हमेशा एक ऐसा बच्चा होता है जिसे कोई चिंता नहीं होती, वह मूतता हुआ भी खुशी से हँसता है, उनमें ही एक दूसरा होता है जिसे 'घोड़े और सवार' के खेल में हमेशा घोड़ा बनना पड़ता है, और एक तीसरा जो सबको छका कर उनका दोपहरी का नाश्ता चट कर जाता है। कक्षा का नेता चुनने के पहले शिक्षक पूरी संजीदगी के साथ अच्छे नेता के वांछनीय गुणों की ओर विवेकपूर्ण निर्णय लेने के महत्व पर बातचीत करते हैं। पर जब चुनाव होते हैं तो उस नन्हे को चुन लिया जाता है जो सड़क के पास खड़ा हो खुशी से हँसता है।"

सभी सुनने वालों को इस कहानी में मज़ा आया, पर मुझे यह समझ नहीं आया कि वे क्यों हँस रहे थे। मैंने सोचा था कि यह तो स्वाभाविक बात ही है।

अगर सब-कुछ नफा-नुकसान के रूप में देखा जाए तो जो बच्चा हमेशा घोड़ा बनता है उसे हारने वाला माना जाएगा, पर महानता और अतिसामान्यता बच्चों पर लागू नहीं होती। शिक्षक ने सोचा कि चतुर बच्चा ही सबसे अच्छा नेता होगा, पर बच्चों ने उसकी चतुराई को गलत तरह की चतुराई माना, उन्हें लगा कि वह दूसरों को दबाएगा।

यह मानना कि जो चतुर है और खुद अपनी देखभाल कर सकता है, वही असाधारण है और असाधारण होना बेहतर है, यह तो वयस्कों के मूल्यों को लागू करना है। जो अपने काम में उलझा रहता है, अच्छे से खाता-सोता है, जिसे कोई फ़िक्र नहीं है, मुझे तो वही सबसे संतोषजनक जीवन जीता नज़र आता है। जो व्यक्ति कुछ भी हासिल नहीं करना चाहता, उससे महान कोई भी नहीं है।

ईसप की नीति-कथाओं में जब मेढ़कों ने देवता से एक राजा मांगा तो उसने उन्हें एक लक्कड़ दिया। मेढ़कों ने मूढ़ लक्कड़ का मखौल उड़ाया और भगवान से अधिक महान राजा मांगा तो उसने एक बगुला भेज दिया। कहानी आगे यों चलती है कि बगुला राजा ने मेढ़कों को चोंच से घायल कर मार डाला।

अगर सामने खड़ा व्यक्ति महान होता है तो उसके पीछे वालों को संघर्ष करना पड़ता है, मशक्कत करनी पड़ती है। पर अगर सामने एक साधारण-सा आदमी खड़ा हो तो उसके पीछे वालों का काम भी आसान हो जाता है। लोग सोचते हैं जो बलिष्ठ और चतुर है – वह असाधारण है, सो वे ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री चुनते हैं जो देश को डीज़ल ईंजन की मानिंद खींच ले चले।

'तो प्रधानमंत्री कैसे इंसान को चुनना चाहिए?'

'एक बेवकूफ लट्टे को', मैंने जवाब दिया। "दारूमा सान"* से बेहतर कोई हो ही नहीं सकता। मैंने कहा – वह पूरी तरह तनाव मुक्त रहता है और सालों-साल बिना कुछ बोले ध्यान में मग्न रह सकता है। उसे धक्का लगाओ तो वह एक ओर लुढ़क जाता है, पर सतत् प्रतिवादहीनता के दम पर फिर से वापस बैठ जाता है। दारूमा-सान हाथ-पैर समेटे यों ही बेकार नहीं बैठता। यह जानते हुए कि हमें हाथ-पैर समेट कर बैठना चाहिए, वह उन लोगों की ओर त्यौरी चढ़ाता है, जो अपने पैर फैलाना चाहते हैं।'
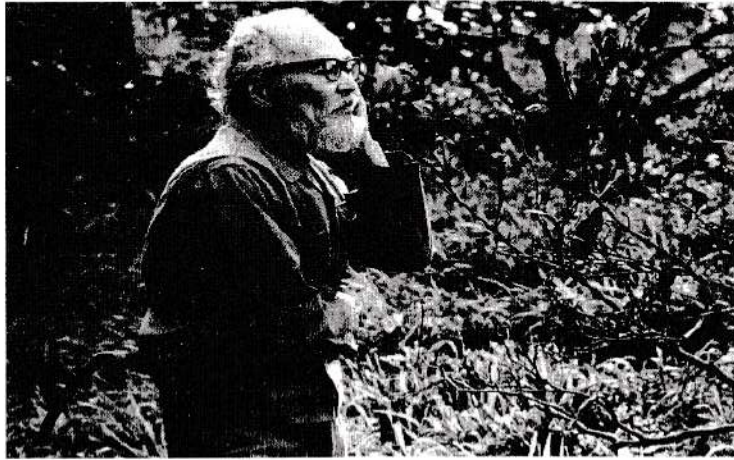
"हम अब उस मुकाम पर आ पहुंचे हैं जहां हमारे लिए इसके अलावा और कोई चारा नहीं बचा है कि हम एक आंदोलन इस बात के लिए चलाएँ कि अब हमें कुछ भी करके नहीं दिखलाना है।"

'अगर आप कुछ नहीं करेंगे तो दुनिया भला कैसे चलेगी? विकास के बिना दुनिया कैसी होगी?'

"विकसित होना क्यों ज़रूरी है? अगर आर्थिक वृद्धि दर 5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत हो जाए तो क्या खुशी भी दुगुनी हो जाएगी? शून्य प्रतिशत की वृद्धि दर में क्या बुराई है? क्या यह अर्थशास्त्रीय

*दारूमा-सान जापान का लोकप्रिय बच्चों का खिलौना है। यह एक बड़ा-सा गुब्बारा होता है जिसका आकार ध्यान में बैठे संत का होता है जिसे नीचे से वज़नदार बना दिया गया हो, ताकि वह लुढ़के नहीं।

रूप से अधिक टिकाऊ नहीं है? क्या सादा जीवन जीने और बेफिक्र रहने से बेहतर कुछ दूसरा हो सकता है?"

लोग जोड़-तोड़ बैठा कर यह समझ लेते हैं कि दरअसल कोई चीज कैसे काम करती है और तब प्रकृति को उपयोग में लाने लगते हैं, सोचते हैं कि इससे मानव-जाति का कल्याण होगा। इस सब का नतीजा यह रहा है कि हमारा ग्रह प्रदूषित बन गया है, लोग भ्रमित हैं, और हमने आधुनिक अव्यवस्था को आमंत्रित कर लिया है।

इस फार्म में हम 'कुछ न करो' खेती करते हैं, स्वास्थ्यदायक और स्वादिष्ट अन्न, सब्ज़ियाँ और संतरे खाते हैं। वस्तुओं के स्त्रोत के करीब होने में सार्थकता और मूल संतोष है। जीवन, गीत और कविता है।

'हम उस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं जहाँ एकमात्र रास्ता यह बचा है कि हम कुछ न कर डालने का आन्दोलन छेड़ें।'

किसान उस समय बेहद व्यस्त हो गया जब लोगों ने दुनिया की छान-बीन करनी शुरू कर दी और उन्होंने यह तय किया कि अगर हम यह या वह करें तो 'अच्छा' होगा। मेरी समूची शोध की दिशा ही यह या वह न करने की रही है। पिछले तीस वर्षों ने मुझे सिखाया है कि अगर किसान कुछ भी न करे तो उसकी स्थिति बेहतर होगी।

जितना अधिक लोग करते हैं, समाज जितना विकसित होता है, उतनी अधिक समस्याएँ पैदा होती हैं। प्रकृति का बढ़ता उजाड़पन, संसाधनों का लोप, मानव-आत्मा की अशांति और टूटन – यह सब इसलिए आया है कि मानवता कुछ हासिल करने में लगी रही। पहले प्रगति करने का कोई कारण नहीं था, हमें कुछ कर नहीं डालना था। हम उस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं, जहाँ हमारे सामने एकमात्र रास्ता यही बचा है कि हम कुछ भी नहीं करने का एक 'आन्दोलन' छेड़ें।

मैं पैदा ही शिशुशाला में जाने के लिए हुआ

जहाँ हम खेतों में काम कर रहे थे वहाँ कंधे पर एक छोटा-सा झोला लटकाए एक नौजवान आराम से टहलता हुआ आया।

'तुम कहाँ से आए हो?' मैंने पूछा।

'वहाँ से।'

'यहाँ कैसे पहुँचे।'

'मैं पैदल आया।'

'यहाँ किसलिए आए हो?'

'मैं नहीं जानता।'

यहाँ आ पहुंचने वाले ज्यादातर लोगों को अपना नाम बताने या अपने अतीत की कहानी कहने की कोई जल्दी नहीं होती। ना ही वे अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हैं। क्योंकि कई स्वयं ही यह नहीं जानते कि वे क्यों आए हैं, वे बस आ पहुँचते हैं, अत: यह स्वाभाविक भी है।

शुरू से ही मनुष्य यह नहीं जानता कि वह कहाँ से आया है या कहाँ जा रहा है। यह कहना कि तुम माँ के गर्भ से आए हो और अंततः मिट्टी में मिल जाओगे – एक जैविक खुलासा है, पर जन्म के पहले किसका अस्तित्व है या मृत्यु के बाद कैसी दुनिया हमारी राह देख रही है, यह भला कौन जानता है।

बिना कारण जाने जन्म लेना और असीम अज्ञात की ओर बढ़ने के लिए आँखें मूँदना – मानव सच में एक त्रासद जीव है।

अभी उस रोज़ मुझे शिकोकू मंदिर के तीर्थयात्रियों के समूह द्वारा छोड़ा गया एक नरकट का टोप मिला। उस पर ये शब्द लिखे थे : 'मूलतः न पूर्व था न पश्चिम/मात्र दस अनंत दिशाएँ।' उसी टोप को हाथ में थामे मैंने उस नौजवान से फिर पूछा कि वह कहाँ से आया है। उसने कहा कि वह कानाजावा में एक पुजारी का बेटा है और चूँकि पूरे दिन मृतकों के लिए शास्त्र पढ़ कर सुनाना बेवकूफी है, वह किसान बनना चाहता है।

न पूरब है, न पश्चिम। सूर्य, पूर्व से उगता है और पश्चिम में अस्त होता है, पर यह तो महज एक खगोलशास्त्रीय अवलोकन है। आप न पूर्व समझते हैं, ना ही पश्चिम, यह जानना सच्चाई के अधिक पास है। सच तो यह है कि यह कोई नहीं जानता कि सूर्य आता कहाँ से है।

दसियों-हजार धार्मिक ग्रन्थों में जिस ग्रन्थ के लिए हमें सबसे अधिक एहसानमन्द होना चाहिए वह है 'हृदय सूत्र', जिसमें सभी महत्वपूर्ण विचार हैं। इस सूत्र के अनुसार "भगवान बुद्ध ने कहा कि आकार शून्य है; शून्य ही आकार है। पदार्थ और आत्मा एक हैं, पर सब शून्य है। मनुष्य न जीवित है, न मृत, वह अजन्मा है और अमर, वह जरा और रोग से हीन है, न बढ़ता है, न घटता है।"

उस दिन धान काटते वक्त मैंने उन युवकों से कहा, जो पुआल की बड़ी ढेरी से टिके सुस्ता रहे थे, 'मैं सोच रहा था कि जब बसंत में धान बोया जाता है, वह अपनी जीवित शाखाएँ निकालता है, और अब, जब हम उसे काट रहे हैं, लगता है वह मर रहा है। पर यह तथ्य कि ठीक यही अनुष्ठान हम साल-दर-साल दोहराते हैं का मतलब यह है कि इस खेत में जीवन चलता रहता है और प्रतिवर्ष होने वाली यह मृत्यु वार्षिक जन्म ही है। सो तुम कह सकते हो कि जो धान हम आज काट रहे हैं वह हमेशा जीवित रहता है।'

इंसान जीवन और मृत्यु को निकट परिप्रेक्ष्य से देखता है। बसंत के जन्म और पतझड़ की मृत्यु का इस दूब के लिए भला क्या अर्थ हो सकता है? लोग सोचते हैं, जीवन आनन्द है और मृत्यु शोक, परन्तु धान का बीज, जो धरती की कोख में दबे रहने के बाद बसंत में अपनी शाखाएँ निकालता है और पतझड़ में जिसकी पत्तियाँ और तने मुरझाते हैं, वह अपने नन्हे केन्द्र में जीवन के समग्र उल्लास को बचाये रखता है। जीवन का आनंद-उल्लास मृत्यु के साथ गायब नहीं हो जाता। मृत्यु क्षणिक गमन से अधिक कुछ नहीं है। क्या आप यह नहीं कहेंगे कि चावल का यह दाना, जिसमें जीवन का आनंद निहित है, मृत्यु के शोक को जानता ही नहीं?

धान और जौ में जो-कुछ होता है ठीक वही मानव शरीर में भी लगातार घटता है। दिन-प्रतिदिन बाल और नाखून बढ़ते हैं, दसियों-हजारों कोशिकाएँ मरती हैं और दसियों हजारों नयी कोशिकाएँ जन्म लेती हैं, माह-भर पहले शरीर में जो खून संचालित हो रहा था, आज का खून वह नहीं है। अगर आप सोचें कि आपके चारित्रिक गुण, आपके बच्चों और नातिनों-पोतों में प्रसारित होते हैं, तो आप यह भी कह सकते हैं कि आप हर दिन मरते हैं और फिर से जन्म लेते हैं, इसके बावजूद आप मृत्यु के बाद भी आगामी कई पीढ़ियों में ज़िंदा रहेंगे।

अगर हम इस चक्र में भागीदारी को हर रोज अनुभूत कर उसका रस ले पाएं तो इससे ज्यादा की ज़रूरत ही नहीं रहती। पर ज़्यादातर लोग पल-छिन बदलते, आते-जाते जीवन का आनंद नहीं ले पाते। उन्होंने जीवन को जैसे अनुभव किया हो, उसी से चिपके रहते हैं। आसक्ति की यह आदत अपने साथ मृत्यु का भय लाती है। जो बीत चुका है या भविष्य में आने वाला है उसी पर ध्यान लगाने से वे यह तक भूल जाते हैं कि वे यहाँ और आज, उसी धरती पर जी रहे हैं। अपने भ्रमों से जूझते वे जीवन को कुछ यों गुज़रता देखते हैं, मानो एक सपने में।

'अगर जीवन और मृत्यु सत्य है, तो मानवीय पीड़ा क्या अपरिहार्य नहीं है?'

'न जीवन है, न मृत्यु।'

'यह आप कैसे कह सकते हैं?'

विश्व स्वयं तो अनुभव के सतत प्रवाह की समग्रता है, परन्तु लोगों का मस्तिष्क घटनाओं को द्वैत की श्रेणियों में बाँटता है, जैसे जीवन व मृत्यु, यिन तथा यांग, अस्तित्व व शून्य। हमारी इन्द्रियाँ जो-कुछ देखती हैं, उसकी सम्पूर्ण वैधता को मस्तिष्क स्वीकारने, मानने लगता है और तब पदार्थ पहली बार, उन वस्तुओं में बदल जाता है, जैसा उन्हें इंसान सामान्यत: देखता हैं।

भौतिक जगत् के विविध आकार, जीवन व मृत्यु, स्वास्थ्य व रोग, आनंद और शोक की तमाम अवधारणाएँ मानव के दिमाग में ही जन्मती हैं। सूत्र में जब बुद्ध कहते हैं कि सब-कुछ शून्य है तो वे केवल उन वस्तुओं की अंतर्निहित वास्तविकता को ही नहीं नकारते जिनकी रचना मानव की बुद्धि ने की है, बल्कि वे यह घोषणा भी करते हैं कि मानव की भावनाएँ भी भ्रम हैं।

'आपका मतलब सब-कुछ माया है? फिर तो कुछ भी नहीं बचता?'

'कुछ भी नहीं बचता? शून्य की अवधारणा तो दिमाग में फिर भी बची रहती है,' मैंने उस युवक से कहा। 'अगर तुम यह नहीं जानते कि तुम कहाँ से आये? या कहाँ जा रहे हो, तो फिर तुम इस बात के प्रति कैसे आश्वस्त हो कि तुम यहां मेरे सामने खड़े हो? क्या अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं?'

"....................."

अभी उस रोज़ मैंने एक चार साल की नन्ही को अपनी माँ से पूछते सुना, 'मैं इस दुनिया में क्यों पैदा हुई? शिशुशाला में जाने के लिए?'

स्वाभाविक था कि उसकी माँ पूरी ईमानदारी से यह नहीं कह सकती थी, 'हाँ, ठीक कहा, अब चलो, स्कूल भागो।' इसके बावजूद कहा जा सकता है कि लोग आजकल शिशुशाला जाने के लिए ही पैदा होते हैं।

मेहनत से पढ़ते हुए, कॉलेज स्तर तक वे यही सीखने की कोशिश में जुटे रहते हैं कि आखिर वे पैदा क्यों हुए हैं। विद्वान और दार्शनिक भी यही कहते हैं कि अगर वे सिर्फ यही एक बात समझ लें तो वे संतुष्ट हो जाएंगे, फिर चाहे इस कोशिश में उनका जीवन ही क्यों न नष्ट हो जाए।

मूलत: इंसान का कोई उद्देश्य नहीं था। अब, किसी-न-किसी उद्देश्य की कल्पना कर वे जूझते रहते हैं ताकि जीवन का अर्थ तलाश सकें। यह तो एक अकेले पहलवान का दंगल है। कोई उद्देश्य नहीं, जिसके बारे में सोचना पड़े या जिसकी तलाश करनी पड़े। अगर आप अपने बच्चों से यह सवाल पूछें कि उद्देश्यहीन जीवन अर्थहीन है या नहीं, तो अच्छा हो।

व्यक्ति जब शिशुशाला में दाखिल होता है तब से ही उसके दु:ख शुरु हो जाते हैं। इंसान एक प्रफुल्लित जीव था पर उसने अपने लिए एक कठोर दुनिया रच ली है और अब उससे छूटने की कोशिश में जुटा हुआ है।

प्रकृति में जीवन और मृत्यु है और प्रकृति आनंदमय है।

मानव-समाज में भी जीवन और मृत्यु है और लोग दुख में जीते हैं।

उड़ते बादल और विज्ञान का भ्रमजाल

आज सुबह मैं नदी किनारे संतरे रखने वाले डब्बों को धो रहा हूँ। एक सपाट चट्टान पर खड़ा हो जब मैं नीचे झुका, मेरे हाथों ने पतझड़ के मौसम की ठंडक को पानी में महसूस किया। स्वच्छ नीले आसमान की पृष्ठभूमि में सुमैक वृक्षों की लाल पत्तियाँ अलग सी दिख रही हैं। आकाश में फैली इन शाखाओं का सौंदर्य मुझे अचरज से भरता है।

इस आम-से दृश्य में पूरी दुनिया का अनुभव मौजूद है। पानी का बहाव, समय का बीतना, नदी का दाहिना और बायाँ पाट, सूरज की रोशनी और छाया, पत्तों की ललाई और आकाश की नीलिमा— सब प्रकृति की पवित्र, मूल पुस्तक में झलक रहे हैं। और इंसान एक छरहरा, विचारवान सरकण्डा-सा प्रतीत हो रहा है।

जैसे ही वह यह प्रश्न पूछता है कि प्रकृति क्या है तो उसे यह भी पूछना चाहिए कि यह 'क्या', क्या है, और वह मनुष्य 'क्या' है जो यह पूछ रहा कि वह 'क्या' क्या है। यों वह अनंत प्रश्नों की दुनिया की ओर बढ़ चलता है।

वह क्या है जो उसे आश्चर्य से भर देता है, जो उसे हतप्रभ करता है, को साफ-साफ समझने की चेष्टा प्रारंभ करने पर उसके सामने दो संभावित रास्ते रह जाते हैं। पहला यह कि वह स्वयं अपने ही अंदर गहराई से झाँके, यह जानने की कोशिश करे कि वह कौन है जो यह पूछ रहा है कि 'प्रकृति क्या है?'

दूसरा रास्ता है, कि वह मनुष्य को अलग कर प्रकृति को जाँचे-परखे।

पहला रास्ता उसे दर्शन और धर्म की परिधि में ले जाता है। शून्य में ताकते हुए यह अस्वाभाविक नहीं कि पानी ऊपर से नीचे बहता दिखाई दे, पर इसमें अगर जल स्थिर और पुल बहता नज़र आए तो इसमें भी कोई असंगतता नहीं है।

परन्तु इसके विपरीत, दूसरे रास्ते पर चलें तो यह दृश्य विभिन्न प्राकृतिक घटकों में विभाजित हो जाएगा, पानी, उसके बहाव की गति, लहरें, हवा और सफेद बादल – ये सभी जाँचने के विषय बन जाएंगे, जो तमाम अन्य प्रश्न पैदा करेंगे जो सभी दिशाओं में अंतहीन फैलते जाएंगे। यह विज्ञान का रास्ता है।

पहले दुनिया सरल-सीधी हुआ करती थी। आप चलते-चलते सिर्फ इतना गौर-भर करते थे कि बगिया में टहलते समय ओस की बूँदों के छूने पर आप गीले हो गए हैं। पर जब से लोगों ने ओस की एक बूंद का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण तलाशने का बीड़ा उठाया, उन्होंने स्वयं को बुद्धि के अनंत नर्क में फंसा लिया।

पानी के अणु हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओं से बने हैं। एक समय था जब लोग सोचा करते थे कि दुनिया में सबसे छोटा हिस्सा अणु ही है, पर तब उन्हें पता चला कि अणु के अंदर एक केन्द्र होता है। अब उन्हें यह पता चला है कि इस केन्द्र में और छोटे-छोटे अंश होते हैं। और इन परमाणु अंशों में सैकड़ों विभिन्न प्रकार होते हैं। यह कोई नहीं जानता कि इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् की तलाश कहाँ थमेगी।

कहा जाता है कि जिस तरह एक अणु के अंदर इलैक्ट्रॉन अपनी धुरी पर तेज गति से चक्कर लगाते हैं, वह ठीक वैसा है जैसे आकाशगंगा में धूमकेतू विचरते हैं। किसी अणु-भौतिक विज्ञानी के लिए आणविक अंशों का यह अतिसूक्ष्म जगत् उतना ही विस्तृत और विशाल है, जितना हमारा ब्रह्माण्ड है। तथापि यह भी दर्शा दिया गया है कि जिस आकाशगंगा में हम रहते हैं, उसके अलावा भी असंख्य आकाशगंगाएँ हैं। जाहिर है कि एक ब्रह्माण्ड विज्ञानी के लिए हमारी समूची आकाशगंगा भी अति-सूक्ष्म है।

'सच तो यह है कि जो लोग यह सोचते हैं कि पानी की बूँद बिलकुल सीधी-सरल बूँद ही है या चट्टान स्थिर और जड़ है, ऐसे अज्ञानी बेवकूफ खुश रहते हैं और जो वैज्ञानिक यह जानता है कि पानी की एक नन्ही-सी बूँद दरअसल एक विशाल ब्रह्माण्ड है और चट्टान परमाणुओं का सजीव संसार, जिसमें उसके सूक्ष्म अंश रॉकेटों की मानिंद तेज रफ्तार से इधर-उधर भागते रहते हैं, वह एक चतुर बेवकूफ है। यों सीधे-सीधे बिना पेचीदगियों में जाए देखो तो दुनिया सच्ची है और प्रत्यक्ष है। पर अपने पेचीदा स्वरूप में यह जगत् भयावह रूप से अमूर्त और सुदूर नज़र आता है।

जो वैज्ञानिक चाँद से चट्टानें धरती पर लाने के बाद बेहद खुश हुए थे उनकी चाँद पर पकड़ उन बच्चों से भी कम है जो गाकर उससे पूछते हैं, 'चंदा मामा तुम्हारी उम्र क्या है?' कवि बाशो* स्थिर तालाब में पूर्णचंद्र के प्रतिबिम्ब को देख प्रकृति के सौंदर्य से चकित हो उठे थे। पर जब वैज्ञानिक अंतरिक्ष में पहुँचे और अपने भारी-भरकम अंतरिक्ष-जूतों से चाँद पर चले तो उन्होंने धरती पर बसे लाखों-लाख प्रेमियों और नन्हों के लिए चन्द्रमा के अद्भुत वैभव को ही धूमिल कर डाला।

लोग विज्ञान को मानवता के लिए हितकारी भला कैसे मान लेते हैं?

पहले इस गाँव में अनाज पत्थरों से बनी चक्की को हाथों से धीमी रफ्तार से चलाते हुए पीसा जाता था। तब एक जलचक्की बनी, जो अधिक तेज़ी से चलती थी और नदी के प्रवाह की ऊर्जा का उपयोग करती थी। कई साल पहले एक बाँध बनाया गया ताकि जल-विद्युत का उत्पादन हो सके और तब बिजली से चलने वाली चक्की आई।

* प्रसिद्ध जापानी हाइकू कवि (1644-1694)।

आप यह कैसे मान लेते हैं कि मशीनों में आई यह तरक्की इंसान के लिए फायदेमंद रही है? चावल का आटा बनाने के पहले, उसे पॉलिश किया जाता है, ताकि वह झक्क सफेद बन जाए। इसका मतलब है धान के छिलके उतारना, उसके अंकुर और चोकर को निकाल फेंकना, जो दरअसल स्वास्थ्य के लिए अच्छे हैं, और बचेखुचे* को रख लेना। अर्थात् इस नई तकनीकी से समूचे व स्वास्थ्यदायक अन्न को अधूरे सह-उत्पाद में बदल दिया जाता है। आसानी से पचने वाला यह सफेद चावल, भात के रूप में रोज़मर्रा की खुराक बन जाता है, तो हमारे आहार में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है, और पूरक आहार जोड़ना आवश्यक बन जाता है। पनचक्की और पिसाई मशीनें हमारे पेट और अंतड़ियों का काम करने लगते हैं, नतीजतन ये अंग आलसी बन जाते हैं।

ठीक यही बात ईंधन पर भी लागू होती है। पुरातन पेड़ों की कोशिकाएँ धरती में नीचे दबने के बाद सैंकड़ों सालों के दबाव व गरमी से तेल में तब्दील होती है। रेगिस्तान से इस तरल पदार्थ को निकाल पाइप-लाइनों द्वारा बंदरगाहों पर भेजा जाता है, जहाँ से उसे जहाज के रास्ते जापान लाया जाता है और यहाँ की रिफाइनरी में उसे साफ कर केरोसिन तेल में बदल दिया जाता है।

आपको क्या लगता है, जलावन के लिए केरोसिन तेल जलाना अधिक सुविधाजनक, अधिक ऊष्मा देने वाला है, या घर के ठीक सामने वाले चीड़ या देवदारू के पेड़ की शाखों को जलाना?** दोनों ही ईंधन वनस्पति जगत् से ही हैं। अंतर यह है कि पेट्रोल व केरोसिन एक लंबा रास्ता तय करके आते हैं।,

अब वे यह कह रहे हैं कि जीवाश्मों से मिला तेल भी पर्याप्त नहीं है और हमें आणविक ऊर्जा को विकसित करना चाहिए। दुर्लभ यूरेनियम को तलाशना, उसे दबाव डाल रेडियोधर्मी ईंधन में बदलना और तब विशालकाय परमाणु भट्टी में जलाना, उतना आसान नहीं है जितना सूखी पत्तियों को माचिस की तीली से जलाना होता है। इसके अलावा चूल्हे की आग सिर्फ राख छोड़ती है पर आणविक भट्टे से रेडियोधर्मी अपशिष्ट बचता है जो हजारों साल बाद भी खतरनाक बना रहता है।

यही सिद्धान्त कृषि पर भी लागू होता है। पानी से भरे खेत में एक नाज़ुक धान का पौधा उगाएं तो वह ऐसा होता है जिस पर कीट और रोग आसानी से हमला कर पाते हैं। अगर तथाकथित 'उन्नत बीजों' का इस्तेमाल हो तो रासायनिक खाद और कीटनाशकों पर निर्भर होना पड़ता है।

परन्तु इसके विपरीत अगर आप छोटे, पर मज़बूत किस्म का धान स्वस्थ वातावरण में उगाएं तो ये रसायन अनावश्यक हो जाते हैं।

अगर पानी से भरे धान के खेत की हल या ट्रैक्टर से जुताई की जाए तो माटी में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, मिट्टी की संरचना टूटती है – केंचुए और दूसरे छोटे जीव मर जाते हैं और माटी कठोर और जीवनशून्य बन जाती है। एक बार ऐसा करने पर खेत को हर साल जोतना पड़ता है।

* बचाखुचा के लिए जो जापानी चित्राक्षर है उसका उच्चारण 'कासू' है। यह दो मूल धातु रूपों से बना है जिसका अर्थ 'सफेद' तथा 'चावल' होता है। 'चोकर' शब्द चित्राक्षर-नूका-का अर्थ है 'चावल' तथा 'स्वास्थ्य'।''

** आज सारी दुनिया के सामने जलावन की लकड़ी का अभाव है। श्री फुकुओका के तर्क में यह कथन भी निहित है कि हमें अधिक पेड़ों को उगाने की ज़रूरत है।

साथ ही ये अधिक विस्तृत रूप में रोज़मर्रा की ज़रूरतों की आपूर्ति के लिए सीधे-सरल व विनम्र उपायों की पैरवी कर रहे हैं।

परन्तु अगर ऐसी विधि अपनाई जाए, जिसमें खेत स्वयं को प्राकृतिक रूप से तैयार कर सकें तो फिर हल या जुताई मशीनों की ज़रूरत भी नहीं होगी।

जब ज़िन्दा माटी से जैविक पदार्थों या सूक्ष्म कीटों की सफाई कर दी जाए, तो तेज़ रफ्तार से काम करने वाली खाद ज़रूरी हो जाती है। धान को तेज़ी से उगाने के लिए अगर रासायनिक खाद का उपयोग किया जाए तो साथ-साथ खरपतवार भी तेज़ी से बढ़ती है। ऐसे में खरपतवारनाशक रसायनों का छिड़काव फायदेमंद माना जाता है।

परन्तु अगर हम धान के साथ तिपतिया बोते हैं और समूचे पुआल व जैविक अवशेष खाद बनने के लिए खेतों को लौटा देते हैं, तो फसल बिना खरपतवारनाशक, रासायनिक खाद या तैयार जैविक खाद के भी उगाई जा सकती है।

खेतीबारी की प्रक्रिया में ऐसा बहुत कम है जिसे त्यागा न जा सकता हो। तैयार खाद, पौधनाशक, कीटनाशक, मशीनें – ये सब अनावश्यक हैं। परन्तु अगर हम ऐसी परिस्थिति पैदा कर दें जिसमें यह सब ज़रूरी बन जाए, तो विज्ञान की शक्ति की ज़रूरत पड़ती है।

मैंने अपने खेतों में यह प्रदर्शित कर दिया है कि प्राकृतिक खेतों से उतना उत्पादन हो सकता है जितना आधुनिक वैज्ञानिक खेती से। अगर निष्क्रिय कृषि से मिलने वाली फसल वैज्ञानिक तौर-तरीकों से मिलने वाली उपज के बराबर ही होती है, और वह भी उसमें निवेश किए गए श्रम और संसाधनों का एक अंश-भर लगाकर, तो फिर वैज्ञानिक तकनीक का फायदा भला कहाँ है?

सापेक्षता का सिद्धान्त

पतझड़ के आकाश की चमकदार धूप में आस-पास पसरे खेतों को देख मैं हैरान रह जाता हूँ। मेरे खेत के अलावा शेष सभी खेतों में धान काटने की मशीन या धान और पुआल काटने की मिश्रित मशीनें खड़ी हैं। पिछले तीन सालों में यह गाँव इतना बदल गया है कि उसे पहचाना तक नहीं जा सकता।

जैसी उम्मीद की जा सकती थी, पहाड़ों पर रह रहे नौजवानों को मशीनीकरण की दिशा में आए बदलाव से जलन नहीं है। वे हाथ में थामी जाने वाली पुरानी दरांती के सहारे फसल काटने का शांत आनंद ले रहे हैं।

उस रात शाम का भोजन खत्म कर, चाय पीते हुए मैं यह याद कर रहा था कि बहुत अरसे पहले जब किसान अपने खेतों को हाथों से ही जोतते थे, एक आदमी ने अपने बैल की मदद से हल चलाना शुरु किया। वह इस बात से गर्वित था कि पूरे खेत की जुताई वह कितनी आसानी और तेज़ी से कर पा रहा है। बीस साल पहले जब पहली जुताई मशीन आई तो गाँव वाले इकट्ठा हुए और इस बात पर गंभीर चर्चा हुई कि मशीन से जुताई करना बेहतर है या बैल से। दो-तीन सालों में साफ हो गया कि मशीन की रफ्तार कहीं तेज है, तो किसानों ने आव देखा न ताव, समय और सुविधा को देखते
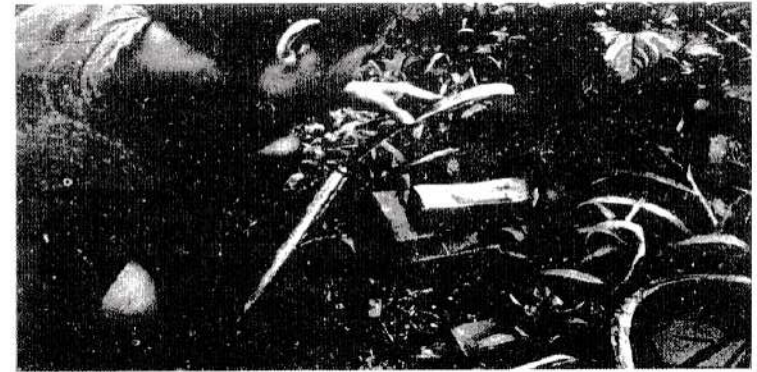
लंबी मूठ वाली दराती को धार देते हुए

हुए, अपने जोतने वाले पशुओं को त्याग दिया। यहाँ प्रेरणा महज इस बात की थी कि अगले खेत के किसान की तुलना में आपका काम जल्दी खत्म हो।

किसान यह नहीं समझता कि वह आधुनिक कृषि की गति और कुशलता की गणना में महज एक गुणनखंड भर बनकर रह गया है। वह कृषि उपकरण बेचने वाले को अपना हिसाब-किताब करने देता है।

पहले लोग तारों से भरे आसमान को देख ब्रह्माण्ड की विशालता पर अचरज से भर उठते थे। पर अब समय तथा अंतरिक्ष के सवाल हमने वैज्ञानिकों के विचार के लिए छोड़ दिए हैं।

कहते हैं कि आइन्स्टाइन को नोबल पुरस्कार इसलिए दिया गया कि उनका सापेक्षता का सिद्धान्त कोई भी समझ नहीं पाता था। अगर उनका सिद्धान्त दुनिया में सापेक्षता की घटना को साफ-साफ समझा देता और यों मानवता को समय व स्थान की सीमाओं से मुक्त कर बेहतर और शांतिपूर्ण विश्व स्थापित कर देता तो यह प्रशंसनीय होता। परन्तु उनके द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण उलझाने वाला है और फलस्वरूप लोग यह सोचने लगे हैं कि दुनिया इतनी पेचीदा है कि किसी भी तरह से समझी नहीं जा सकती। उन्हें तो मानव-आत्मा की 'शांति भंग' करने का पुरस्कार दिया जाना चाहिए था।

प्रकृति में सापेक्ष दुनिया का अस्तित्व है ही नहीं। सापेक्षता का विचार तो मानव-बुद्धि द्वारा अपने अनुभवों को एक ढाँचा देने के लिए रचा गया है। अन्य पशु तो अविभाजित वास्तविकता की दुनिया में जीते हैं। जिस हद तक व्यक्ति बुद्धि की सापेक्ष दुनिया में जीता है, उसी हद तक वह समय के परे जो समय है, तथा स्थान के परे जो स्थान है, उसे देख नहीं पाता।

"आप यह सोच रहे होंगे कि मैं हमेशा वैज्ञानिकों के ही पीछे पड़ा रहता हूँ," मैंने चाय का घूँट भरने के लिए रुकते हुए कहा। नौजवानों ने मुस्कराते हुए मुझे देखा, उनके चेहरे अलाव की रोशनी में दमक रहे थे। 'ऐसा इसलिए है कि आप वैज्ञानिकों की भूमिका को ठीक वैसा मानते हैं जो आपके दिमाग में विभेदबुद्धि की है।'

युद्ध और शांति के बिना एक गाँव

साँप एक मेंढ़क को मुँह में दबोचता है और घास में सरक जाता है। एक लड़की चीखती है। एक साहसी बच्चा अपनी घृणा जताने को साँप की ओर पत्थर फेंकता है। शेष बच्चे हँसते हैं। मैं पत्थर फेंकने वाले लड़के की ओर मुड़कर पूछता हूँ : 'इससे भला क्या हासिल हुआ?'

चील साँप का शिकार करती है। भेड़िया चील पर हमला करता है। इंसान भेड़िए को मारता है और बाद में क्षय रोग के कीटाणुओं के सामने घुटने टेक देता है। कीटाणु मानव-शरीर और अन्य पशुओं के अवशेषों में पनपते हैं और घास और पेड़-पौधे कीटाणुओं की गतिविधियों से उत्पन्न पोषक तत्वों पर फलते-फूलते हैं। कीट पेड़ों पर हमला करते हैं और मेंढ़क कीटों को खाते हैं।

पशु, पेड़-पौधे, कीटाणु – सभी जीवनचक्र का हिस्सा हैं। एक सही संतुलन बनाने के लिए वे प्राकृतिक रूप से नियमित जीवन जीते हैं। आप चाहें तो इस व्यवस्था को 'बलवान कमज़ोर को खाता है' के रूप में देखें या फिर इसे पारस्परिक निर्भर सह-अस्तित्व मानें। दोनों ही व्याख्याएँ स्वेच्छाचारी हैं और अव्यवस्था व विभ्रम की हवा व तरंगों की कारक भी।

वयस्क सोचते हैं कि मेंढ़क पर दया आनी चाहिए। उसकी मृत्यु से मन में करुणा और साँप के प्रति घृणा जगनी चाहिए। यह भावना स्वाभाविक लग सकती है, पर क्या सच में यह ऐसा है?

एक नौजवान ने कहा, 'अगर जीवन को एक ऐसी स्पर्धा के रूप में देखें, जिसमें सबल निर्बल को खा जाता है, तो धरती हत्या और विनाश का नर्क दिख पड़ती है। पर, अपरिहार्य तथ्य यह है कि निर्बल की बलि चढ़ती है ताकि सबल जी सके। सबल जीतते और बचे रहते हैं जबकि निर्बल क्रमश: समाप्त हो जाते हैं, यह प्रकृति के नियमानुसार होता है। लाखों-करोड़ों वर्षों के बाद आज धरती पर जो जीव-जन्तु नज़र आते हैं वे जीवन के संघर्ष में विजयी रहे हैं। आप कह सकते हैं कि सक्षम का बचे रहना प्रकृति द्वारा निर्धारित नियति है।'

दूसरे युवक ने कहा, 'कम से कम जीतने वालों को तो ऐसा ही लगता होगा। पर मेरी नज़र में यह जगत पारस्परिक फ़ायदे के लिए सह-अस्तित्व का स्थान है। इस खेत में उगे अनाज के तले तिपतिया, घास और खरपतवारों की तमाम किस्में एक-दूसरे को लाभ पहुँचाते हुए जीती हैं। आइवी (मारवल्ली) लता पेड़ के इर्द-गिर्द लिपटती है, काई और शैवाल पेड़ के तनों और शाखाओं पर जीते हैं। पर्णांग (फर्न) जंगल के वृक्ष छत्र के नीचे फैलते हैं। पक्षी व मेंढ़क, पौधे, कीट-पतंग, छोटे पशु,

जीवाणु, फफूँद-कुकुरमुत्ते – सभी जीव एक-दूसरे के लिए अत्यावश्यक भूमिकाएँ निभाते हैं और एक-दूसरे के अस्तित्व से लाभ उठाते हैं।

तीसरा बोला, 'पृथ्वी पर ऐसी दुनिया है जिसमें बलवान 'कमजोर' को खाता है, और ऐसी भी जिसमें सह-अस्तित्व है। बलवान अपनी ज़रूरत से ज्यादा नहीं लेते; हालाँकि वे दूसरे जीवों पर हमला करते हैं, फिर भी प्रकृति का संतुलन बना रहता है। प्रकृति का प्रबंधन एक लौह नियम हैं जिससे धरती पर शांति व व्यवस्था कायम रहती है।'

तीन लोग, तीन भिन्न दृष्टिकोण। मैंने तीनों मत पूर्णत: खारिज किए।

जगत स्वयं यह पूछता ही नहीं कि वह स्पर्धा के सिद्धान्त पर आधारित है या सहयोग के? जब जगत् को मानव-बुद्धि के सापेक्ष – परिप्रेक्ष्य से देखा जाता है तो समझ आता है कि उसमें सबल जीव हैं और निर्बल भी, बड़े विशाल जीव हैं और अतिसूक्ष्म भी।

इस तथ्य पर कोई शंका नहीं करता है कि इस सापेक्ष नज़रिए का अस्तित्व है, परन्तु अगर हम यह मानते कि मानवीय दृष्टिकोण की यह सापेक्षता ही गलत है – उदाहरण के लिए हम यह मानते कि न छोटा है, न बड़ा, न ऊपर है, ना नीचे – अगर हम कहते कि ऐसा कोई दृष्टिकोण है ही नहीं, तो मानवीय मूल्य और विवेक ही ध्वंस हो जाता।

प्रकृति में सापेक्षता की दुनिया का अस्तित्व ही नहीं है।

'दुनिया को इस तरह देखना क्या कोरी कपोल-कल्पना नहीं है? वास्तव में बड़े और छोटे देश होते हैं। अगर गरीबी और अमीरी हो, सबल व निर्बल हों, झगड़े तो निश्चित रूप से होंगे और नतीजतन जीतने और हारने वाले भी होंगे। तो फिर क्या आप यह नहीं कहेंगे कि ये सापेक्ष दृष्टिकोण और उनके फलस्वरूप उपजने वाली भावनाएँ मानवीय हैं, और इसलिए स्वाभाविक भी, यही तो इंसान का अनोखा विशेषाधिकार है?'

दूसरे, पशु लड़ते-भिड़ते हैं, पर युद्ध नहीं करते। अगर आप कहें कि युद्ध करना, जो सबल और निर्बल के विचार पर आधारित है, इंसान का विशेषाधिकार है, तो फिर जीवन ही एक ढोंग है। इस स्वांग को स्वांग के रूप में न पहचान पाना – यही तो मानव की त्रासदी है।

जो लोग इस दुनिया में विरोधाभासों और विभेदों के बिना, शांति से जी पाते हैं, वे शिशु ही तो हैं। उन्हें प्रकाश और अंधकार दिखता है, सबल और कमज़ोर भी, पर वे कोई फैसले नहीं करते। साँप और मेंढ़क, दोनों का अस्तित्व है, पर बालक ताकतवर और कमज़ोर को नहीं समझता। जीवन का मूल आनंद उसमें होता है, पर मृत्यु का भय आगे जाकर, भविष्य में जुड़ता है।

वयस्क की आँखों में झलकने वाला प्रेम और घृणा मूलत: दो भिन्न वस्तुएँ नहीं थीं। वह एक ही भाव है जिसे सामने से और तब पीछे से देखा जा रहा है। प्रेम ही घृणा का कारण भी देता है। अगर आप प्रेम के सिक्के को उलट दें तो वह घृणा बन जाता है। समग्रता की दुनिया में प्रवेश करके ही, जिसमें पक्ष-विपक्ष न हो, आप इस घटनापूर्ण जगत् के द्वैत में खोने से बच सकते हैं।

लोग स्व और अन्य में भेद करते हैं। जिस हद तक अहं का अस्तित्व बना रहेगा, जिस हद तक 'अन्य' का अस्तित्व होगा, लोग प्रेम और घृणा से नहीं बचेंगे। जो हृदय दुष्ट अहंकार को प्यार करता
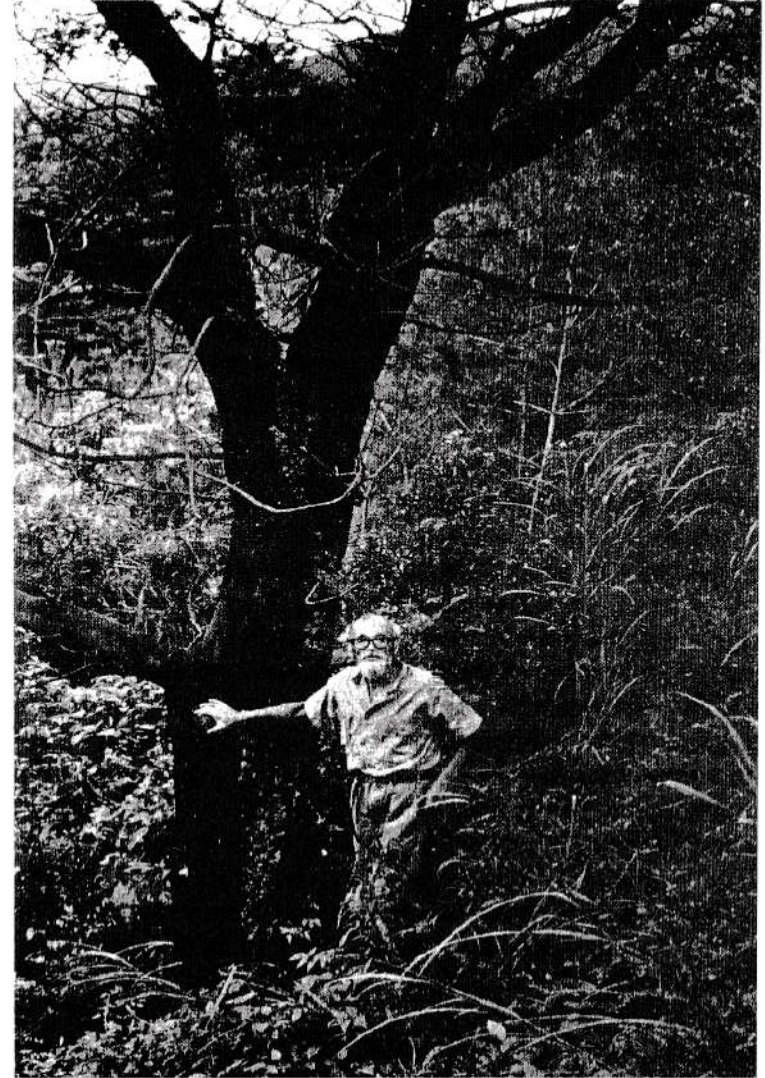
प्रकृति में सापेक्षता जैसी चीज़ का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

है, वही घृणित शत्रु पैदा करता है। इंसानों का पहला और सबसे बड़ा दुश्मन वही 'स्व' है जिसे वे इतना प्यार करते हैं।

लोग हमला करने या बचाव करने का विकल्प चुनते हैं। तत्पश्चात् जो संघर्ष होता है उसे शुरु करने के लिए वे एक-दूसरे को दोष देते हैं। यह ऐसा है जैसे तालियाँ बजाने के बाद यह बहस छिड़े कि आवाज़ दाहिनी हथेली ने की या बाँयी ने! इन सभी विचारों में न कुछ सही है, न ही गलत, न अच्छा है, न बुरा। सभी सचेतन भेद एक ही समय उठते हैं और सभी भूल हैं।

किले का निर्माण प्रारंभ से ही गलत है। चाहे शासक यह कहे कि गढ़ शहर की सुरक्षा के लिए बनाया गया है, दरअसल यह शासक के व्यक्तित्व का नतीजा है और आस-पास के इलाके पर अधिकार स्थापित करने की मंशा का एलान करता है। परन्तु वह हमले के डर का दावा कर किलेबंदी को शहर की सुरक्षा के लिए निर्मित बताता है, हथियार इकट्ठे करता है और द्वार पर ताला लगाता है।

बचाव का कृत्य स्वयं पर हमला ही है। जो हमला करते हैं उन्हें आत्मरक्षा के हथियार हमेशा एक बहाना उपलब्ध करवाते हैं। युद्ध की आपदा स्वयं व अन्य, सबल और निर्बल, हमला और सुरक्षा के खोखले विभेदों को सुदृढ़ करने से आन पड़ती है।

शांति का मार्ग बस एक यही है कि सभी लोग सापेक्ष सोच के दुर्ग-द्वार से अलग हटकर उपवनों से गुजरते हुए अ-क्रियाशील प्रकृति के केन्द्र में प्रवेश कर जाएं, यानी बजाए तलवार के आप अपनी हंसिया को धार चढ़ाए।

पुराने ज़माने के किसान शांतिप्रिय लोग थे, पर अब वे माँस के मुद्दे पर ऑस्ट्रेलिया से, मछलियों पर रूस से लड़ रहे हैं और अमरीका पर गेहूँ और सोयाबीन के लिए निर्भर हैं।

मुझे महसूस होता है मानो हम जापान में एक विशाल वृक्ष की छाया में जी रहे हैं और आँधी तूफान के समय विशाल वृक्ष की छाया से अधिक खतरनाक कोई दूसरा स्थान नहीं होता। और 'परमाणु-छत्र' के नीचे आश्रय लेने से बड़ी बेवकूफी कोई दूसरी नहीं है, पर वही अगले युद्ध का लक्ष्य होगा। आज हम उसी अँधेरे छत्र के तले खेती कर रहे हैं। मुझे लगता है कि एक भारी विपत्ति अंदर और बाहर, दोनों ओर से दबे-छुपे बढ़ी आ रही है।

अंदर और बाहर, दोनों पक्षों से पीछा छुड़ाओ। दुनिया-भर के किसान मूलत: किसान ही हैं। हम कह सकते हैं कि शांति की कुंजी धरती के निकट है।

एक तिनके से क्रांति

पहाड़ पर बनी कुटियाओं में आने वाले युवक-युवतियों में ऐसे भी हैं जो शरीर और आत्मा से कमज़ोर होते हैं, जो उम्मीद त्याग चुके हैं। मैं ऐसा बूढ़ा किसान हूँ, जो इस बात का अफ़सोस करता है कि मैं उन्हें एक जोड़ी चप्पल तक नहीं उपलब्ध करवा सकता, पर एक चीज़ मेरे पास ज़रूर है जो मैं उन्हें दे सकता हूँ।

एक तिनका।

मैंने झोंपड़ी के सामने से कुछ तिनके उठाऐ और कहा, ''पुआल के इस एक तिनके से एक क्रांति प्रारंभ हो सकती है।''

'यहाँ समूची मानव-जाति का विनाश सामने खड़ा है और आप अब भी इस तिनके से चिपके रहने की आशा रखे हैं, एक तरुण ने तल्ख आवाज़ में पूछा।'

यह तिनका नन्हा और हलका नज़र आता है, सो ज़्यादातर लोग यह जानते तक नहीं कि दरअसल यह कितना वज़नी है। अगर लोग तिनके की असली कीमत को पहचानते तो ऐसी क्रांति का सूत्रपात होता जिसमें देश व दुनिया को हिलाने की ताकत हो।

जब मैं बच्चा था उन दिनों इनुयोसे दर्रे के पास एक आदमी रहा करता था। ऐसा लगता था कि उसके पास पहाड़ी से घोड़े पर कोयला लादकर गुंजु के बंदरगाह तक (कोई दो मील) पहुंचाने के अलावा कोई काम नहीं था। इसके बावजूद वह बहुत अमीर हो गया। अगर आप लोगों से पूछें कि ऐसा कैसे संभव हुआ, तो वे बताएंगे कि वह बन्दरगाह से घर लौटते समय सड़क पर पड़े पुआल से बने घोड़ों के जूते और घोड़े की लीद बटोर कर वापस ले आता था और अपने खेत पर बिखेर देता था। उसका प्रेरणा वाक्य या नारा था, 'पुआल के एक-एक तिनके को महत्व दो और अकारण एक भी कदम न बढ़ाओ।' और इसी सूत्र पर अमल करता हुआ वह धनवान बन गया।

'आप तिनके को जला भी दें, तो मुझे नहीं लगता कि उसकी चिनगारी क्रान्ति की चिनगारी बन सकेगी।'

बाग के पेड़ों से हलकी हवा सरसराती गुज़री और सूरज की किरणें हरी पत्तियों पर झिलमिलाईं। मैं धान उगाने में पुआल के उपयोग पर बोलने लगा।

लगभग चालीस साल गुजर चुके हैं जब मुझे यह एहसास हुआ था कि धान और जौ उगाने में पुआल कितना महत्वपूर्ण हो सकता है। उस समय कोची ज़िले में मैंने एक पुराने खाली पड़े, अनजुते खेत के पास से गुज़रते हुए देखा कि मिट्टी पर पड़े पुआल और खरपतवार के झंखाड़ के बीच स्वस्थ, नए धान के पौधे अंकुरित हुए हैं। इसी दृश्य के निहित अर्थ को कई सालों में समझने के बाद मैं धान और जौ उगाने की एक नई पद्धति की पैरवी करने लगा। इस विश्वास के साथ कि खेती की यह विधि प्राकृतिक और क्रांतिकारी है, मैंने इस बारे में किताबों और पत्रिकाओं में लिखा, दर्जनों बार रेडियो और टेलीविज़न पर इसकी बात की।

ऐसा करना कितना आसान लगता है, पर पुआल के उपयोग पर किसान के सोचने के तौर-तरीके इतने रूढ़ हो चुके हैं कि वे बदलाव को आसानी से नहीं स्वीकार सकेंगे। खेत में ताज़ा पुआल बिछाना इसलिए जोखिम का काम हो सकता है क्योंकि धान को कीड़े लगने और तनों को गलाने वाले रोगों की संभावना हमेशा बनी रहती है। पूर्व में ये रोग भारी नुकसान पहुँचा चुके हैं, यही मुख्य कारण है कि किसान पुआल को कम्पोस्ट में तब्दील करने के बाद ही उसे खेतों में डालते हैं। बहुत समय पहले कीट रोग से बचाव के लिए धान के पुआल को सावधानी से खत्म कर दिया जाता था, होक्काइदो युग में कई बार पुआल जलाना कानूनन अनिवार्य भी बनाया गया था।

तना छेदक कीट भी सर्दियाँ गुज़ारने के लिए पुआल में जा दुबकते हैं। इन कीटों के प्रकोप से बचने के लिए किसान सर्दियों-भर पुआल को सावधानी से कम्पोस्ट में बदलने के लिए छोड़ दिया करते थे, ताकि आगामी बसन्त तक वह खाद में बदल जाए। यही कारण है कि जापानी किसान अपने खेतों की इतनी साफ-सफाई करते हैं। रोज़मर्रा की जिन्दगी का व्यावहारिक ज्ञान यही था कि अगर किसान पुआल बिखरा छोड़ेगा तो उसकी असावधानी की सज़ा उसे दैवी शक्तियाँ देंगी।

बरसों के प्रयोगों के बाद तकनीकी विशेषज्ञों तक ने मेरे इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि अगर बुआई के छह माह पूर्व ताज़ा पुआल खेतों में बिछाया जाए तो यह पूरी तरह सुरक्षित तरीका है। इस सिद्धान्त ने इस विषय पर पहले से स्थापित मान्यताओं को पूरी तरह उलट दिया है। पर किसान पुआल के ऐसे उपयोग को स्वीकारे, इसमें लंबा समय लगेगा।

शताब्दियों से किसान कम्पोस्ट का उत्पादन बढ़ाने में लगे हुए हैं। कृषि मंत्रालय तो कम्पोस्ट उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए प्रोत्साहन राशि दिया करता था और प्रतिवर्ष कम्पोस्ट प्रतिस्पर्धा प्रदर्शनी आयोजित करता था। किसान कम्पोस्ट को मिट्टी का संरक्षक देवता ही मानने लगे थे। अब फिर अधिक कम्पोस्ट बनाने का आंदोलन छिड़ा है, केंचुओं और 'कम्पोस्ट स्टार्टर' के माध्यम से 'बेहतर' कम्पोस्ट बनाने का आंदोलन। ऐसे में मेरा सुझाव है कि तैयारशुदा कम्पोस्ट कतई गैर-ज़रूरी है, खेतों में ताज़ा व साबुत पुआल बिखेर देना-भर काफी है। लेकिन इसे स्वीकारा जाएगा – यह उम्मीद रखने का मुझे कोई कारण नज़र नहीं आता।

टोक्यो तक जाते समय तोकाइदो रेलगाड़ी की खिड़की से झांकते हुए मैंने जापानी ग्रामीण इलाकों की बदलती सूरत देखी है। सर्दियों के खेतों को देख, जो पिछले दस सालों में पूरी तरह बदल चुके हैं, मुझे इतना गुस्सा आता है जिसका बयान तक मैं नहीं कर सकता। पहले का दृश्य जिसमें जौ

के हरे-भरे खेत और चीनी मिल्क वंच और रेप के फूलते खेत नज़र आया करते थे, अब गायब हो चुके हैं। उनके बदले अब अधजली पुआल की बड़ी-भारी व बेतरतीब बनी ढेरियाँ दिखती हैं, जिन्हें बरसात में भीगने के लिए छोड़ दिया जाता है। पुआल के प्रति यह लापरवाही आधुनिक खेती का सबूत है। इन खेतों का सूनापन किसानों की आत्मा की उजाड़ता को दर्शाता है। सरकारी नेताओं की ज़िम्मेदारी के भाव को ये चुनौती देते हैं और यह संकेत करते हैं कि एक विवेकवान कृषि नीति का अभाव है।

जो व्यक्ति कई वर्ष पहले सर्दियों के अनाज उगाने की प्रथा की 'करुणामय समाप्ति' की बात करता था, जो उसकी 'सड़क किनारे मृत्यु' की बात करता था – वह आज इन वीरान खेतों को देख क्या सोचता होगा? सर्दियों में जापान के इन रीते खेतों को देख मेरा सब्र टूटता है। इसी पुआल से मैं खुद ही एक क्रान्ति लाऊँगा।

अब तक चुपचाप बात सुन रहे नौजवान खिलखिला कर हँसने लगे।

'एक इंसान की क्रान्ति! चलो कल सुबह जौ, चावल और तिपतिया के बीजों को एक बड़े से बोरे में भर लेते है और उसे ओकूनीनूशी-नो मिकोतो* की तरह अपने कंधे पर लाद कर तोकाइदो के सारे खेतों पर बीज बिखेरते हैं।'

'एक इंसान की क्रान्ति नहीं', मैं हँस कर कहता हूँ, 'एक तिनके की क्रान्ति कहो।'

दोपहर की धूप में कुटिया से निकल, मैं पल-भर पकते हुए फलों से लदे पेड़ों को निहारता हूँ, खरपतवार और तिपतिया को कुरेदती मुर्गियों को देखता हूँ और तब खेतों की परिचित ढलान पर उतरने लगता हूँ।

---

* निरोग करने वाला जापानी लोक देवता, जो कंधे पर बोरा धरे घूमता है और सबको सौभाग्य बाँटता है।